महुए का पेड़

(दस कहानियाँ

मार्कण्डेय

नया प्रकाशन
इलाहाबाद - ३

पहली बार
१९५५

आवरण
जगदीश मित्तल

प्रकाशक
[illegible] प्रकाशन
[illegible]-३

मूल्य
३ रुपये

मुद्रक
[illegible]
[illegible]

प्रस्तुत संग्रह में 'पान-फूल' के बाद की दस चुनी हुई कहानियाँ संगृहीत हैं।

पाठकों, मित्रों एवं सहृदय आलोचकों ने, बड़ी ही आत्मीयता तथा स्नेह से पहले संग्रह को अपनाया है। मै उन सबके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इन कहानियों मे, जीवन को आलोकित करने वाला कोई भी प्रकाश-कण आप को दीख गया, तो मुझे विश्वास है, इन्हे आपका सानिध्य प्राप्त होगा।

सुप्रसिद्ध कलाकार श्री जगदीश मित्तल ने अपनी सारी व्यस्तताओ के बीच आवरण-पृष्ठ बनाने में जो तत्परता की है, उसके लिए मै उनका आभारी हूँ।

२ डी०, मिंटो रोड, इलाहाबाद
५, दिसम्बर' ५५ } मार्कण्डेय

श्री बद्री विशाल पित्ती को

जूते

—यह तो जूते नहो हो सकते, और चाहे कुछ भी हों !—मनोहर सोचने लगा,—लेकिन बहू जी बार-बार इसी कमरे में ढूँढने को क्यो कहती हैं ?—उसे एक बार फिर अपनी आँखो पर सन्देह हुआ और वह कमरे के बीच मे खड़ा हो कर चारो ओर घूम गया—कहीं कुछ नहीं, बच्चों के केवल दो लाल खिलौने ! उसने उन्हें हाथ मे उठा लिया, यह तो बड़े चिकने हैं, पैर में कैसे पहने जा सकते हैं ? और उसके आगे मालिक का चमरौधा नाच गया,—कैसा मोटा तल्ला है उसका, और नाल भी क्या ठाट के जड़े हैं; और ऊपर से रेंड़ी का तेल ! कहते हैं; आँख की रोशनी अस्सी बरस तक जैसी-की-तैसी बनी रहती है। मै बड़ा हो कर जरूर एक जूता बनवाऊँगा। चाहे उसके लिए कितना ही काम क्यो न करना पडे।

—माँ तो कहती है न कि ठाकुर की घिसौनी जिन्दगी भर थोड़े ही करनी है ! अभी तो तू नादान है; इसलिए लगा दिया है कि थोडा काम-धन्धे का ढंग सीख ले। नही तो क्या रामू ही बड़ा कमाऊ सपूत है ? मेरा मनोहर भी चटकल के साँचे चला लेगा और कलकत्ता से लौट कर

आएगा, तो उसके पास बढ़िया कुर्ता, धोती, साफा और जूता होगा।—मनोहर का मन प्रसन्नता से नाच उठा, फिर उसे एकाएक बहू का ध्यान आ गया और उसकी दृष्टि उस हाथ में उठाये खिलौने पर थम गयी,—कितने मुलायम हैं ये, जैसे कोई फूल हो और इन पतली-पतली पट्टियों में यह चाँदी-सा क्या जड़ा है?—उसने उसे हाथ से सहला दिया,—इस नयी बहू की सब चीजें अनोखी हैं—कपड़ा-लत्ता, बोलचाल।—उसके दिमाग में जैसे बिजली-सी कौंध गयी।

उनका जूता भी इसी तरह का लाल-लाल है। गाँव की नेहरिया कहती हैं—भाई, उसका क्या पूछना; जितने दाम का उनका जूता है, बड़े-बड़े सरदारों की पगड़ी भी न होगी। शहर के सुख-आराम की बात ही दूसरी है। यहाँ तो बड़ों-बड़ों को मौका-मतलब के लिए लतरी भी नहीं मिलती। वह तो जैसे धरती पर लात ही नहीं धरतीं—और बहू के मासूम, गुलाबी पैरों पर बँधे सैंडिल के फीते उसके दिमाग पर छा गये,—उसमें भी इसी तरह की सुनहली पट्टियाँ हैं, ऐसी मुलायम कि हाथ सरक जाए।—उसने उस खिलौने को उलट-पुलट कर देखा, नीचे कुछ गर्द लगी थी: पर मुलायम रबर—न तो नाल, न कीलें। अजब माया है इनकी!—वह परेशान हो गया।

फिर सोचने लगा,—इस पर पैर रखकर क्यों न देखूँ?—और उसे ज़मीन पर रख कर, जैसे ही उसने पैर रखा, बहू कमरे में घुस आयीं। मनोहर डर के मारे काँप उठा। बड़ी मालकिन के तमाचे और ठाकुर की क्नैठी उसके दिमाग़ में दौड़ गयी। उसका सारा शरीर पसीने से लथपथ हो गया। "तेरे पैर में नहीं अटेगा, मनोहर! उसे छू नहीं सकता था तो मुझे बुला लिया होता। माँ ने मना किया है, क्या रे?" और बच्ची को गोद से उतारते हुए उन्होंने मनोहर के सुई के-से कड़े-कड़े, उठे हुए बालों को सहला दिया, "बाप रे, कितने कड़े हो गये हैं तेरे बाल! माँ तेल भी नहीं डालती क्या? अच्छा चल, तेरे बालों में तेल डाल दूँ।" और बैठ कर बच्ची के सफेद धुले-धुले फूलों-जैसे पाँव में जूता पहिनाने लगीं।

मनोहर रुआँसा हो आया; पर एकाएक जूते का ख़याल जैसे उसकी आँखो के आँसू पी गया। उसने जल्दी-जल्दी आँखे पोंछ कर पानी की दीवार हटा दी; तब तक बहू बच्ची को जूता पहना चुकी थीं और मनोहर का अचम्भा, जैसे एक प्रश्न-चिह्न-सा उसके आगे खड़ा रह गया था,—यह तो अजीब तरह से पैर में चिपक गया है, लेकिन यह गिरेगा अभी-अभी। जैसे ही बच्चे ने पैर हिलाया, यह नीचे आ जाएगा; और जब मालकिन इस बार पहनाएँगी, तो मै जरूर देख लूँगा।—बच्चा हिला, फिर डोलने लगा और फिर दौड़ने पर जूता जहाँ का तहाँ। मनोहर की आँखे लगातार उसमें धँसी रहीं।

जेठ की रुपहली चाँदनी में गाँव का रस्ता एक मोटी धूल के गद्दे में लिपटा पड़ा था और उसकी दिन वाली गहरी जलन हल्की, सुहावनी सीत में बदल गयी थी। बहू जी धीरे-धीरे धूल पर पैर के निशान बनाती जा रही थीं और बच्ची मनोहर की अँगुलियो के सहारे जैसे अनभ्यस्त-सी डगमगाती हुई चल रही थी। मनोहर की निगाह बहू के जूते से बने निशानो पर थी, जो सोल के निशानों के कारण चतुर बच्चों के घर-घरौंदों मे बनी नक्काशी-से लग रहे थे। मनोहर सोचने लगा, आज ही दिन को तो वह पलास की पत्तियाँ पैरो में बाँध कर यहाँ आया था। दिन में यह धूल जैसे कड़ाह के तेल-सी जलने लगती है! उसका ध्यान बच्ची की ओर से हटा ही था कि वह धूल मे पैर धँस जाने से लुढ़क गयी और मनोहर जल्दी-जल्दी उसे खड़ा करके गोद में उठाने लगा, पर वह उठती क्यो? मनोहर से थोड़ी ही छोटी तो है वह। फिर मनोहर उसे वहीं खड़ा करके उसके फ्राक की धूल झाड़ने लगा। बच्ची भी जल्दी-जल्दी दोनों हाथो को चलाने लगी, पर उसकी दोनो खुली टाँगों और जूते पर पड़ी गर्द निकल नहीं पा रही थी। मनोहर डर गया, कहीं बहू नाराज न हों और बड़े मालिक की बात, "देख रे, सँभाल कर ले जाना बच्ची को, कहीं गिराना नहीं वर्ना बहुत पीटूँगा।"

वह बहुत डर गया। जल्दी से जमीन पर बैठ कर बच्ची को अपनी

गोद में उठा लिया और अँगोछे के एक छोर से उसकी गर्दन झाड़ने लगा। धूल में धँस कर जूतों का रंग मद्धिम पड़ गया था। मनोहर ने बार-बार उन पर कपड़े फेरे, हाथ से पोछा, मुँह से फूँका, पर उनकी चमक गायब हो गयी थी। मनोहर सोचने लगा,—आखिर गर्द में इन्हें पहनने की क्या जरूरत थी, कोई पैर थोड़े ही जल रहा था या साव-पूरुष की ठारी भी तो नहीं थी!—फिर वह हाथ से बार-बार जूते को सहलाता, साफ करता, मुँह से फूँकता। उसे लग रहा था, जैसे जूते को चोट आ गयी है, उसका मन मलीन हो गया है। उसके तल्ले में कंकड़ तो नहीं धँस गये? उसने जैसे ही झुक कर उन्हें देखना शुरू किया था कि बहू की आवाज आयी, "क्या कर रहा है रे, घर चल कर साफ कर लेना। तेरा कपड़ा तो माटी में सना जा रहा है और तू इन जूतों के कारण इसे छाती पर लादे हुए है! कौन बड़ा जवान पाठा हो गया है?"

मनोहर हड़बड़ा गया। उससे कुछ भी कहते न बना और बहू ने बच्ची की उँगली पकड़ कर, धूल में खड़ा कर दिया। फिर कहने लगीं, "अपने कपड़े तो झाड़ ले मनोहर! चल, अब लौट चलें, बहुत टहलना हो गया।" पर मनोहर के हाथ न हिले और वह बच्ची के पीछे-पीछे घर लौट आया।

बच्ची बहुत थक गयी थी। उसकी आँखें रह-रह कर झँप जाती थीं। बहू ने उसे दूध पिला दिया और वह चारपाई पर लेट गयी। उसका एक पाँव चारपाई की पाटी से थोड़ा लटक रहा था, जिसमें धूल से सना जूता चिपका हुआ था। मालकिन ने मनोहर के हाथों में पंखा देते हुए कहा, "थोड़ी हवा कर दे, सो जाएगी, मैं भी जा कर खा लूँ।" और चलते-चलते फिर कहती गयीं, "मैं उधर सोऊँगी, तुम बच्ची के जूते उतार देना और खा-पी कर वहीं नीचे सो जाना!"

मनोहर को प्रसन्नता हुई पर एकाएक जूतों के उतारने की बात से वह घबरा गया। उसकी समझ ही में नहीं आया कि वह कैसे उतारेगा उन्हें। और वह बड़ी देर तक ग्रीष्म की सुहानी चाँदनी में बच्ची को, पलंग की

सुफ़ेद, धुली चादर को, फिर उसके जूतों को,देखते-देखते वहीं चारपाई की पाटी के सहारे बैठ गया। जूतों पर हाथ फेरा। उसके चमकते हुए बक्सुए को इधर-उधर हिलाया, उसके पतले फीतों को सँभाल कर खींचा-ताना; पर कोई उपाय समझ में नहीं आया। रह-रह कर बीच में घर का कोई आदमी जब इधर-उधर आता-जाता, तो वह उन्हे छोड़ कर पंखा झलने लगता। उसने तय किया,—जब सब लोग सो जाएँगे, तब खोलूँगा। तब तक इसकी गर्द को साफ कर दूँ।—और वह अपने कुर्ते से उसे पोछने लगा। हाथ की अँगुलियों से जहाँ-तहाँ जमी धूल हटायी और कोनों को मुँह से फूँक-फूँक कर साफ किया; पर उसे सन्तोष नहीं हुआ,— मालकिन नाहक ही जूते लेकर गाँव आयी, क्या जानती नहीं थीं कि यहाँ धूल माटी होती है? कोई पक्का मकान थोड़े ही है? और ले कर आयीं भी, तो इन्हे कपड़ों के बक्सों मे ही क्यों नहीं रखा?—वह मालकिन के दिये हुए कुर्ते को देखने लगा, जिसे उसने पहन रखा था,-क्या इससे खराब हैं जूते?—और उसके हाथ, बच्ची के मुलायम पाँवों से सट गये। धीरे-धीरे रात ठण्डी होती गयी और चाँदनी खिल कर घर के आँगन में बिछती गयी। मनोहर भी निश्चेष्ट, निष्क्रिय-सा बच्ची के पाँवों के पास जूते और चारपाई की पाटी से सटता गया। फिर पलास के पत्ते...धूल की जलन...माघ की ठारी...रामू का चरमराता हुआ जूता और मालिक का रेंड़ी के तेल मे डूबा हुआ चमरौधा..."नहीं-नहीं!" वह बड़बड़ाने लगा, "मै ऐसे ही लाल-लाल जूते लूँगा लेकिन धूल मे, ककड़ पर, ओस मे, कीचड़ मे नहीं पहनूँगा। जब बरात मे जाऊँगा, बैठूँगा, तो उतारूँगा... पर, नहीं, कोई चुरा ले जाएगा...चुरा..." उसका सिर कुछ खिसक कर बच्ची के पाँवों से सट गया और बच्ची के लटकते हुए पैर उसके सीने पर आ गये। उसका दूसरा हाथ भी बच्ची के पैरों मे चिपक गया जैसे कोई प्रणय-विभोर कामिनी-मोहा विष्ट निद्रा मे तन्मय हो गयी हो।

बहू जी की आवाज़ पर एकाएक उसकी नींद टूट गयी। वह भौचक्का हो गया, यह तो सुबह हो गयी! उसने हाथ उठाया, तो बच्ची

के पाँव उसके सीने से सटे थे और जूता सामने लटक रहा था। क्षण-भर के लिए उसकी दृष्टि रुकी,—बहू जी ने इन्हें उतारने को कहा था न!—उसे याद आ गया और वह डर गया। फिर देखा, बीबी जी सामने खड़ी जैसे किसी दूर की बात में खोयी हुई मुस्करा रही थीं।

"कहाँ तो तू जूते छूता नहीं था, कहाँ रात-भर इन्हें पहने ही सिरहाने पड़ा रहा। तू बड़ा पागल है, मनोहर! जा कर हाथ-मुँह धो ले! रात खाना खा लिया था न?" मनोहर चुप रहा।

"बोलता क्यों नहीं?"

मनोहर नीचे देखने लगा। वह सोचने लगा, वह बिल्कुल खाना ही भूल गया। "अच्छा जाकर हाथ-मुँह धो और महरा जी से रोटियाँ ले कर खा ले! मैंने तेरे लिए चौके में चार रख छोड़ी हैं।"

मनोहर हाथ-मुँह धोने गया, तो उसे एकाएक जूते उतारने की बात याद आ गयी और जल्दी-जल्दी मुँह पर पानी छिड़क कर भागा आया, पर मालकिन जूते उतार चुकी थीं। उन्होंने इतनी जल्दी उसे लौटते देखा, तो फिर हँसने लगीं, "तू बच्ची से इतना हिल गया है कि हाथ-मुँह भी धोना छोड़ दिया है। कहाँ तक साथ लगा रहेगा, बुद्धू! कल तो मुझे दिल्ली जाना है। कह, तो तेरे भरोसे इसे छोड़ जाऊँ। पाल लेगा इसे?" वे हँसने लगी थीं, पर मन के भीतर जैसे कोई दुःख की परत खुरच रही हो, गहरे, फिर गहरे।

"और हाँ, दाई से कहना, इसे कपड़े बदला दे और तू इसे ले कर मेरे पास आ तो, इसे दूध भी पिला दूँ और तुझे खाना भी दे दूँ।"

मनोहर दाई के पास बच्ची को ले गया, तो उसने जल्दी-जल्दी इधर-उधर करके उसके कपड़े बदल दिये और कहने लगी, "ले जाकर जूते पहना लेना, मुझे एक ही काम थोड़े ही है। बड़े लोगों के पचास झंझट होते हैं। मैं क्या-क्या करूँ? जब से आयी हूँ, काम करते-करते छाती फटी जाती है। बच्ची को कपड़े भी नहीं बदला सकतीं?"

मनोहर चुपचाप बच्ची को लेकर लौटा, तो फिर जूते का खयाल उसके

दिमाग पर छा गया,—लेकिन इस बार तो मैं जरूर जूते पहना लूँगा। उसने अपना कुर्ता निकाल कर जमीन पर बिछा दिया और बच्ची के दोनों पांवों को सामने रख कर, बड़े चतुर व्यक्ति की तरह जूतों को उलटा-पुलटा कर पहनाने लगा। फिर जब-जब वह बच्ची के पाँवों को उठा कर जूते डालने की कोशिश करता, वे कहीं-न-कहीं फीतों में उलझ जाते या बच्ची उसके कन्धे पर हाथ रख कर उठ खड़ी होती और उसके सर को दबा कर कन्धों पर चढ़ने की कोशिश करते हुए कहने लगती, "घोला बन जा, मनोहल! घोला मनोहल...घोला..."

मनोहर परेशान हो गया। फिर वह ठीक से बैठ कर, उसे गोद में बैठा कर और एक हाथ से उसे दबा कर, दूसरे से जूते पहनाने की कोशिश करने लगा। पर बच्ची के पाँवों में किसी भी तरह जूते नहीं जाते थे। उल्टा जब वे हाथ से छूट कर गिर जाते, तो मनोहर उन्हें अपनी देह में पोछने लगता। कभी-कभी बच्ची "घोला...घोला..." कह कर पीछे की ओर उचकती और मनोहर को लेकर जमीन पर गिर पड़ती। वह परेशान हो गया था। तभी बहू जी एक हाथ में दूध का गिलास, दूसरे में चाय-रोटी ले कर कमरे में घुसीं।

"जूतों के पीछे खाना-पीना भी नहीं होगा, मनोहर! दाई ने बताया उसने कभी के कपड़े बदल दिये हैं और तू जूते पहनाने गया, तो यहीं जूते पहना रहा है? और यह कुर्ता!" वे जैसे बिगड़ उठीं, "कल ही तो दिया है न रे, क्या हालत बना दी इसकी! कहीं जमीन पर बिछाने की चीज़ है यह?"

मनोहर चुपचाप खड़ा हो गया। उसने जमीन पर से कुर्ता उठा लिया और बाहर निकल ही रहा था कि वे कहने लगीं, "तेरा खाना लायी हूँ। ले, बैठ कर खा ले!"

वह संकोच में पड़ गया। घर में बैठ कर खाना! कहीं बड़ी मालकिन ने देख लिया, तो क्या होगा? और वह चुपचाप चाय का गिलास और रोटियां ले कर बाहर चला गया।

बहू ने बच्ची को दूध पिला कर जूते पहना दिये और उसकी अँगुली पकड़ कर बाहर निकलीं, तो मनोहर दरवाजे पर जल्दी-जल्दी रोटियाँ निगल रहा था। उसका मन फिर उदास हो गया और वह बच्ची के नन्हे-नन्हे सुकुमार पाँवों में बँधे जूतों को देखता रहा।

—बहू जी कल सुबह चली जाएँगी, और बच्ची भी और उसका जूता भी।—मनोहर रात सोया, तो उसके मन में यही ख्याल था। बगल में बच्ची के जूते पड़े थे और मालकिन सो रही थीं। मनोहर बार-बार जूतों को देखता और उसका मन सोचने लगता,—यदि रात भर में मैं बड़ा हो जाता, तो बहू जी के साथ ही कल दिल्ली चला जाता और पैसे कमा कर अपने लिए लाल-लाल जूते खरीदता।

रात बढ़ती जा रही थी। चारों ओर सुनसान, पर मनोहर को नींद कहाँ ? बस, बहू जी के जाने की बात उसके मन में जैसे पैर तोड़ कर बैठ गयी थी और वह बार-बार जूतों को देखता। उसने हाथ बढ़ाया, जूतों को खींचा और पास रख कर देखने लगा,—कितने सुन्दर हैं ये ! लेकिन कल से ये मुझे सपने हो जाएँगे।—वह उलट कर, उन्हें आगे जमीन पर रख कर देखना चाहता था, क्योंकि ऐसे देखने में उसे जूते उठाने पड़ते थे और बहू जी के जगने का डर उसे बराबर बना हुआ था। वह उलट ही रहा था कि पानी भरे लोटे में धक्का लगा और उस पर रखी हुई तश्तरी झनझना कर गिर गयी। उसने जल्दी से जूता रख दिया पर बहू जग रही थीं। इसलिए कुछ बोलीं नहीं, चुपचाप कभी मनोहर को, कभी बच्ची को, कभी पूरे घर को और कभी चाँद और दिल्ली की सड़कों और इमारतों को देखनेलगती थीं। लेकिन मनोहर और उसके हाथ, उसकी बेचैनी और जूते, सब जैसे रात के सफ़ेद रंग में मिल-जुल कर एक में सन जाते थे।

मनोहर सोचते-सोचते सो गया था, पर उसका हाथ जूतों पर टिका हुआ था, जैसे कोई सूम अपने धन को या कोई प्रेमिका अपने प्रेमी को अपनी छाया में बाँध लेना चाहती है।

सुबह जब बहू ने मनोहर को देखा तो उनकी आँखें भर आयीं। मनोहर अब भी जैसे किसी ख़यालाती दुनिया में खोया-सा सो रहा था और एक अवसाद के कुहासे से उसका सारा शरीर मोहाविष्ट हो गया था। वे कुछ देर तक देखती रहीं, पर गाड़ी के समय का ध्यान आते ही वे उठ खड़ी हुईं और मनोहर को जगा कर कहने लगीं, "देख, जल्दी से तैयार हो जा, तुझे भी स्टेशन तक साथ चलना होगा।"

मनोहर को तैयार क्या होना था, उसने जल्दी से कुर्ता गले में डाल लिया और सोचने लगा,—मैं आज बहू जी का साथ नहीं छोड़ूँगा, देखें कब बच्ची को जूते पहनाती हैं!—फिर उसके जी में आया, कह दे, "बच्ची को तैयार कर दीजिए, जूते पहना दीजिए, मैं लेकर चलूँ!" पर उसका साहस न हुआ,—शायद बहू जी मेरे सिर पर यह काम न मढ़ दें। पर इस बार मैं नहीं हटूँगा! और वह जूते और बच्ची के आस-पास चक्कर काटता रहा।

बहू ने जल्दी-जल्दी नहा-धो लिया था और वह बच्ची को कपड़े भी पहना चुकी थीं। अब मनोहर डर ही रहा था कि कुछ करने को कह कर टाल न दें कि बहू जी बोल उठीं, "क्या खड़ा-खड़ा देखता है, मनोहर बेटा! जल्दी से टिफिन केरियर लेकर रसोई से पूड़ियाँ रखा ले, माँ ने बना ली हैं।" और बच्ची की अँगुली पकड़ कर जूते के पास तक चली गयीं। पर मनोहर कैसे रुकता, उसे रसोईघर तक तो जाना ही था। उसका मन कुछ भारी हो गया।

स्टेशन दो मील था, पर जाते समय धूप नहीं थी। फिर भी मनोहर रास्ते के बड़े-बड़े पलास के पत्तों को देखता गया, क्योंकि कड़ाहे के तेल की तरह जलने वाली धूप और भड़रे की तरह जलती गर्द होगी लौटते समय; बच्ची के जूते, माघ की ठारी, माधो का चरमराता हुआ जूता और मालिक का चमरौधा, कुछ भी तो उसे याद नहीं आया था। बस, पलास के पत्ते, जो इस तपन में ही सुआपंखी हरियरी से नाच उठते हैं—शायद जानवरों की छाया के लिए, मनोहर के पैरों के जूते के लिए और हाँ,

उसने पत्तियों को पैरों तले बाँधने के लिए घर ही से रस्सी के कई टुकड़े भी छिपा कर जेब में रख लिये थे; क्योंकि बड़ी मालकिन के वे शब्द, जो उन्होंने मनोहर को एक दिन पलाश की पत्तियों के जूते पहने देख कर कहा था, "शौकीन होता जा रहा है? बाप ने भी कभी जूतों का मुँह देखा था? अभी से तेरा पाँव जलने लगा!" उसके कानों में गूँज उठे थे।

पर लौटते समय वह पलाश की पत्तियाँ, आग की तरह जलती धूप और जेठ की दुपहरिया, जैसे कुछ नहीं थी, क्योंकि रास्ते पर धूल थी, कंकड़ थे और मनोहर की बगल में एक कागज का डिब्बा दबा था, जिसमें उसके लिए लाल-लाल जूते थे।

एक दिन की डायरी

मन भी अजीब है—कभी-कभी भागता है, खूब भागता है—भड़के हुए बैल की तरह, मनमाना, स्वच्छन्द, और जो उसे पकड़ने की कोशिश करो, बाँधने की सोचो, तो जाने कैसे, कहाँ से निकल कर फिर दूर—बहुत दूर हो रहता है।

और कभी-कभी तो जी मे आता है, किसी ततैया के छत्ते के ठीक नीचे खड़े हो कर उसे छेड़े और खड़े रहें। लेकिन, न जाने क्यो, लगता है कि बींधने से सारा शरीर बेचैन हो उठा है, और बरफ़-सी शीतल और सुकुमार उँगलियाँ धीरे-धीरे रेंग कर उस दर्द को खींच रही हैं। स्नेह के आँसुओं से भीग जाने का जी होता है—खूब उघर कर, नगा हो कर।

कभी किसी सरोवर के विश्रात जल मे डूबने से उठी लहरो का गोला देखने को मन होता है, और लगता है, जैसे अथाह गहराई में खड़े होने की ताकत हो आयी हो, तैरना आ गया हो, दूर के चुने हुए कमल तोड़ लाने का पौरुष जाग उठा हो।

ऐसे भी अवसर जीवन मे आते हैं, जब भूख लगी हो, और खाना न मिले; नींद लगी हो, पर सो न सके; हँसना चाहे, बहुत जोर से चीख पड़ना चाहे, मन कहे, पर कर न सके, और जब स्टोव जला कर चाय बनाने की सोचे, तो उँगलियाँ जल जाएँ, और माँ को याद हो आए।

—मिट्टी के, गोबर से लिपे, घर में मीठे तेल का दीया जल उठे, और बाँस की साफ-सुथरी चारपाई पर बहुत सफेद बिस्तर बिछ जाए, फिर मीठी लोरियों मे—माँ की छाती मे डूब जाने को, खो जाने को जी कहे। दूध-भात की कटोरियाँ देख कर घर छोड़ कर भाग जाने को हो, पर दहलीज मे बैठे पापा की डाँट से निगलना ही पड़े।

लेकिन इसके बाद भी बिस्तर मे काँटे उग आएँ, तकिया जलने लगे, और खटमलो की एक सेना सारी देह पर घेरा डाल दे, तो फिर टहलने को— दूर-दूर तक घूम आने को, पीछे कई वर्ष के कैलेंडर छू आने को तबीयत मचलती है, भूली-बिसरी बातों की दूकान सजा देने को जी होने लगता है, जिसमे मीठी गोझियाँ, मालपुआ से ले कर पूरियों और चटनियो तक का मजा लेने को तबीयत आती है। बात ही बात, और कुछ नही, क्योकि बात से पेट भरता नहीं—संतोष हो आता है लेकिन जो बात करने वाला ही न हो पास, और कोई मिले भी न रात के इतने बीते समय मे, तो कभी-कभी डायरी लिखने की इच्छा होनी है—उस दिन की डायरी, जब कालेज से लौटते ही माँ ने चूल्हे से चाय का पानी उतारते-उतारते किंचित् मुसकरा कर कहा था, "सुना, तू लेखक हो रहा है आजकल! राम और कृष्ण ही को सुना था, जिनकी कथाएँ लिखी जाती हैं, और तू लड़कियों पर कहानी लिखता है?"

काटो तो ख़ून नही, "यह क्या कह रही हो, माँ! किसने बताया तुमसे यह सब?"

और वह हँस पड़ी थी, "पागल कहीं के! अभी-अभी राय बाबू की बहू आयी थी, उनके मकान के आधे हिस्से मे जो वकील रहता था न,

वह चला गया है, और उसमें सरकारी इंजीनियर आ कर रहने लगे हैं। उनकी कोई लड़की है—सुशीला, वह तेरे साथ पढ़ती है ?"

"धत् तेरे की माँ, क्या बात कर दी तुमने आते-आते, अरे वह भी कोई लड़की है, देहाती, तुच्छ। अरे, उसे तो ठीक से धोती भी बाँधनी नहीं आती—मैं उस पर कहानी लिखूँगा ?"

—और मन की परतें जैसे सूखे कपास के बीज की तरह उखड़ गयी हों। माँ की बात, हाथ की फाइल, केतली, प्लेट-प्याले, सड़कें, इमारतें —सब पीछे—छह महीने पीछे।

"ज़रा एक बात सुनना भाई ! अलग की है।" मेरे एक साथी ने मोर-पखी की छाया में खींचकर मुझसे कहा था।

—मुझे दुःख हुआ था—अचम्भा हुआ था। आख़िर तुमने अपने को पहचान लिया, लेकिन फिर कुछ संतोष भी हुआ था, कि मेरी कहानी में तुम्हारी तस्वीर पहचानी गयी, और तुम्हारे ही द्वारा। "लेकिन मैं कहानी की पात्र नहीं हूँ।" मित्र ने बताया, तुम दुःखी हो कर कह रही थीं। फिर एक अवसाद का कुहासा घिर आया था मन पर, और सावन की हल्की फुही में मेरे मन के रेशे उड़ गये थे।

—मैं उससे बोलूँगा—जरूर बोलूँगा। कहूँगा, कि मुझे वह क्षमा कर दे, गलती से यह सब हो गया, और...पर माँ ने चाय देते हुए कहा था, "अच्छी लड़कियाँ ऐसे ही रहती हैं। राय बाबू की स्त्री ने तुम्हे शाम को घर बुलाया है। कुछ खा-पी कर मिल आना।" पर मेरा मन उड़ा जा रहा था।—मैं झूठ बोलूँगा—यह कहूँगा कि ग़लती से उसकी तसवीर उभर आयी है, और यदि किसी के मन में वैसी ही तसवीर बसती हो, वही शोभा हो, वही तसल्ली हो उसके मन की, तो कोई क्या करे ? क्या किसी को चाहना, किसी से स्नेह करना दोष है, किसी को मन के पास देखना बुरा है ! फिर मेरे मन का वह दबा हुआ तूफ़ान उघर गया था, जब मैंने उसके लिए पत्र लिखे थे—

"तुम्हें इस तरह तकलीफ़ देना मुझे अभीष्ट नहीं था, सुशील !

मै लज्जित हूँ, तुम मुझे क्षमा कर दोगी। फिर नहीं लिखूँगा। अपनी आत्मा को मार दूँगा, अपनी आवाज का गला घोट दूँगा। बस, तुम बुरा न मानो।" पर वह सब, जैसे बासी गुलाब की पखुड़ियो-सा किसी अंधड़ में झड़ गया था—वे सारे पत्र आँच में तप कर राख हो गए थे—लिफाफ़ों मे कस कर घुट गये थे।

फिर तुम मेरे लिए असंभव-सी हो गयी थी—आवाज से बाहर—पहुँच से बाहर, जैसे हवा हो ही न तुम्हारी अगल-बगल।—राय बाबू की स्त्री ने तुम्हें घर पर बुलाया है, कुछ खा-पी कर मिल आना। माँ की बात याद आ गयी थी।

और मै गया, तो तुम्ही पहले मिली थी—जैसे अभी-अभी सो कर उठी हो—रूखे-रूखे-से बिखरे बाल और बहुत सोच-हीन आँखें, जैसे किसी भयानक तूफान को आते देख कर भी कोई साहसी मल्लाह अपनी किश्ती का पतवार ढीला किये बैठा हो—डूबना जो नहीं है उसे, और उसी तरह तुमने कहा था—

राय बाबू के यहाँ जा रहे थे, चलो अच्छा हुआ जो मै मिल गयी। मैंने ही बुलवाया था, तुम्हें। पर मै बोल नहीं सका था। क्योंकि जिसे पहाड़ मान कर चढ़ाई की इच्छा ही मर गयी थी, वह मैदान से भी ज्यादा समतल थी, और उसने अपने ड्राइंग रूम का दरवाजा खोल दिया था। उसी के भीतर बायी ओर एक छोटे-से कमरे मे बैठे थे हम। उसके पढ़ने का कमरा था यह, पर बहुत सपाट—एक रैक मे थोड़ी-सी किताबें, एक तख्त और एक तिपाई—सब पर सफ़ेद कपड़ा, कही कोई सजावट नही—कोई बनाव नही।

"लड़कियो से डरते हो!" उसने मुझे तख्त पर बैठा कर कहा था।

"नहीं तो!" मुझे ज़रा सहारा मिला।

वह जरा हँसी भी तो नहीं। अपने को बनाया-सँवारा भी नही, वैसे ही, जैसे कोई विचारक लंबे चिंतन के बाद अपने किसी घर वाले से—किसी आत्मीय से—बड़े गभीर रूप मे, काम की बातें करता जा रहा हो।

जी में आया, कहूँ, रात दो बिल्लियाँ लड़ते-लड़ते माँ के बिस्तर पर कूद पड़ीं, कौए ने मुन्ना के दूध-भात की कटोरी उठायी, तो छत पर डाल दिया। ग़नीमत समझो, कि मिल गयी, वर्ना माँ अमरीका से सैनिक सहायता लेने जा रही थी—क्या होता फिर तुम्हारे घर का, पर मेरे घर में चूहों का बुराहाल है। दिखाई पड़ा नहीं की पिता जी को सदमा हुआ राशन की कमी का—तुम्हारे पास मूसादानी होगी?

पर बात के सिलसिले का ध्यान कर, चुप रह गया। क्या कहता, जो था, लगा, वह सब प्रेत का स्वप्न था। सत्य तो और ही कुछ है।

"तो बोलो कुछ। या लिख कर ही व्यक्त करते हो, अपने को!"

"नहीं तो! पर क्या कहूँ, कुछ समझ में नहीं आता।"

"कोई नयी कहानी लिखी इधर?"

"लिख नहीं पाया।"

"क्यों?"

मैं बोल नहीं सका।

"इसलिए कि कोई मन की लड़की नहीं मिलती।"

"हाँ ऐसा ही मानो।" मैंने बहुत साहस करके उदास मन से कहा।

"तो लड़कियों के लिए लिखते हो?"

"नहीं तो।"

"अपने लिए?"

"नहीं।"

"पढ़ने वालों के लिए?"

"कह नहीं सकता।" मुझे जैसे कोई छेड़ रहा हो, इच्छा हुई, कहूँ, बहुत हो गया। अब चलूँ, पर उसने बात बदल दी।

"बहुत अच्छा लिखते हो, मेरी माँ को तुम्हारी कहानियाँ बहुत पसंद हैं। तुम जानते हो न, कि वे हिंदी कम समझती हैं। मैं ही प्रायः पढ़ कर समझाती हूँ, उन्हें।" और उसने मेरी कई प्रकाशित कहानियों की बात कर डाली। बड़े ही प्यारे सुहृद की तरह बोलती थी,

जैसे उसे बड़ी आशा हो मुझसे, और सफलता के लिए आश्वासन भी हो मन को।

फिर जैसे कुछ अटकते हुए उसने कहा, "जाने, क्या-क्या पूछने वाली थी, तुमसे। सोचा था, एक लिस्ट बना कर बुलाऊँ, पर सब जैसे भूल रही हूँ। एक दिन 'राम-भण्डार' गयी माँ के साथ, तो सोचा तुम्हारे लिए रसगुल्ले खरीदूँ, और एक दिन...हाँ...याद नहीं पड़ता, ठीक...हाँ...हाँ पिछली शरद् पूनों ही को तो—जब माँ, पापा के साथ मिर्जापुर में थीं—तुम जानते हो न, वे सरकारी इंजीनियर हैं। आजकल वहीं हैं; तो सोचा, बहुत दूर तक घूम आऊँ, तुम्हें भी बुला लूँ। साथ रहेंगे, तो बातें होती रहेंगी—उन्हीं दिनों तुम्हारी कई कहानियाँ पढ़ी थीं। अच्छा, तो जाने भी दो इन सब को। आज तो देर हो गयी है—माँ से कहा भी न होगा तुमने वर्ना तुम्हें खाना बना कर खिलाती। मुझे बड़ा अच्छा लगता है खाना बनाना।" इस तरह बहुत देर तक वह बोलती रही थी, फिर मैं चला, तो कहने लगी, "अब मिलना तो बोलना, कोई कहानी लिखना तो बताना, मैं सुनूँगी।"

मैं सम्पूर्ण बिखर गया था उस दिन। समझ ही न सका कि कहाँ गया था। लौटा, तो कोई लालसा नज़दीक न थी। वेग मन में नहीं था, रात को दिन, और दिन को रात समझने की बात न थी—यहाँ तक कि साँस का अन्दाज लेने के लिए कई बार सीने की धड़कन का सहारा लेना पड़ा। सोचा, जी रहा हूँ तो कुछ सोचता क्यों नहीं—कुछ हवाई किले क्यों नहीं बना डालता—कुछ रंगीन आसमान क्यों नहीं रचता, पर कुछ भी वैसा न हुआ। रात में नींद भी ख़ूब आयी। सुबह उठा, तो पिछला सब भूल गया था।

धीरे-धीरे मन वैसा हो गया, जैसे किसी मनोरम जंगल के झरने के पास बसने वाले बूढ़े का हो जाता है। कौन-सा ऐसा संगीत है इसमें; जो शहर के बाबू कान लगा कर सुनते हैं, समय बर्बाद करते हैं और कड़ी धूप में घर-द्वार छोड़ कर यहाँ आते हैं।

कभी-कभी किताब तक लाद देता उसके रिक्शे पर, "इसे लेती जाओ ! मैं गोष्ठी जाऊँगा, तो लौटने में देर होगी। शाम को आऊँगा, तो ले लूँगा।" कभी कक्षा से निवृत्त हो कर वह मेरे क्लास में आ जाती, तो खड़ी रहती। फिर जब सब निकलने लगते, तो कहती, "मैं घर जाऊँगी, कोई काम हो, तो दे दो।"

मैं कहता, "जाओ!" तो वह चली जाती, न चाहती, न कहती कुछ। कभी कुछ पैसे देती और कहती "शाम को आना, तो कोई चीज लेते आना—तरकारी, टोस्ट, बटर आदि...।" और भी मैं कटता गया था—ऐसा नहीं कि उसका काम बुरा लगता था, यह तो मन की ही बात थी, पर वह गतिहीन हो गयी थी, मूर्ति की तरह निर्जीव—निर्विकार, इसलिए मैं यह बचा जाता था, कम मिलना चाहता था।

धीरे-धीरे समय निकल गया पीछे, और हमने उसकी दौड़ पर मन नहीं दिया, जैसे इन्हें तो जाना ही था। मौसम भी अच्छे-बुरे आये,पर हमें वैसा ही छोड़ गये। मुझे किसी चीज में खास रुचि नहीं रही। बहुत सोचा, तो एक कहानी बनी। एक साथी संपादक थे, माँगते थे, तो उनकी पत्रिका का पेट तो भरना ही था इसलिए लिखा; पर लगा, जैसे यह काम मैंने पहले कभी नहीं किया है।

किताबें भी फीकी-सी लगती थीं—यह सारा कितना नया इकट्ठा हो गया है पढ़ने को, और बुकस्टाल पर भी बहुत सारा खरीदना बच रहा है, पर क्या ऐसा होता है इन किताबों में—कथाओं में ! स्त्री का ग़लत चरित्र है सर्वत्र, मन का छीला हुआ। इम्तहान भी क्या है ! और यह कोर्स की किताबें ! प्रकाशकों और लेखकों की भरती की सामग्री ! कुछ नहीं है खास इनमें—समय में, गति में, जीवन में कोई भी एक बिन्दु ऐसा नहीं है, जो भ्रम न हो, खिलवाड़ न हो।

उन्हीं दिनों वह पत्रिका निकली थी। मैंने कहानी देखी भी नहीं छपी। भूल भी चला था, पर वह मिल गयी। रिक्शा रुकवा कर अपने साथ बिठा लिया।

"मिले क्यों नहीं ? बुरा मान गये, ऊब गये मेरे कामों से ।" उसके तन मे पहली बार गर्मी देखी मैंने—आंखों में हल्की-सी सिहरन; और जी मे आया, उसकी गोद में सिर डाल दू और कहूँ; "कुछ समझ में नहीं आता, क्या करूँ, कैसे रहूँ, क्या मतलब है आदमी का, उसके जीने का, रहने का, साँस लेने का !" पर वह बोलने लगी थी, "क्यों लिखी ऐसी कहानी तुमने, यह ठीक है कि कादम्बरी की महाश्वेता का आदर्श है तुम्हारी रुचि में, पर तुम नल के समान निर्मोही हो ? सिद्धार्थ के समान त्यागी हो ? मैं फिर पहचानती हूँ, अपने को वहाँ । मैं उदासी हूँ—यही न मतलब है तुम्हारा ?"

जी मे आया, चिल्ला पड़ूँ । कहूँ, "छोड़ दो मुझे, क्यों बाँध रही हो इतनी बेरहमी से ? मेरा मन टूटने के करीब है, बिखरने के पास है, बेड़ियाँ न डालो इसमे ।" पर मैं दबा बैठा रहा, कुछ भी न कह सका ।

फिर कहने लगी, "देखकर रास्ता बचाते हो, और बन रहे हो गौतम !" जैसे वह झिड़क-सी रही हो । "शाम को आओगे घर ?"

"नहीं ।"

"क्यों, अब तो गोष्ठियाँ भी छोड़ दी है, इधर !"

"तुम्हें यह सब कैसे मालूम ?"

"जैसे भी हो, पर काम क्या है, जो नही आ सकोगे ?" और फिर चलते-चलते उसने कहा, "तो आना, माँ ने कई बार पूछा है, और घूमने भी चलेंगे, आज बड़ा मन है ।"

उस दिन मैं नहीं गया, तो फिर जाना न हुआ । गर्मी आ गयी थी । हवा से वैसे ही देह जलने लगी थी, इसी में परीक्षाएँ हुईं, और हम कहाँ से कहाँ हो रहे । बहुत लू आयी उस साल । आदमी भुन के रह गया, खड़े-खड़े पेड़ सूख गये, और कुओं मे पानी न रहा । जानवर भूखों मरने लगे । इसी बीच पचास वर्ष के रामू दादा, पाँच-सौ रुपये में एक बहू लाये । गांव में बड़ी बात रही, कि लड़की का बाप खाए बिना मर रहा था । पेट कहीं धरम बचने देता है ? बेचारे ने जान-बूझ

कर थोड़े ही लड़की बेची। दुलारी के बाप के ऊपर तो आसमान फट पड़ा—रोता-चीखता फिरा, पर बिरादरी में सुनवाई न हुई। क्यों उसने उस लफंगे रिश्तेदार को घर में टिकाया। आज की बात थोड़े ही थी। वर्षों से वह शहर से आता, तो महीनों रह जाता। कहते हैं, रिक्शा चलाता है और इधर तो हारे-गाढ़े मदद भी कर देता था, पैसे भी दे जाता था, पर दुलारी को इस तरह उड़ा ले जाने पर बिरादरी भला कैसे मानती। भोज-भात, डाँड़-बाँध कुछ तो होगा ही उस पर। उस समय मैं गाँव में था। सोचता, यह सब क्या हो रहा है। बहुत जी अकुलाया, बहुत ऊबा, पर मैं शहर न आया।

माँ ने बुलाया, पत्र डाला, अन्त में तार दिया पर मैं न गया।—सुशीला की शादी हो गयी, वह चली गयी, तुम्हें पूछती थी।—यह सब भी लिखा, पर मैं न जा सका। जी ऊबता, तो मुन्नी के लिए बाजरे के डंठल से बंदूक बना देता, घोड़ा बना देता, पर किताबें देख कर बुखार-सा लगता। बहुत जोर मारता, तो किसी उपन्यास का एकाध हिस्सा पढ़ कर मन खट्टा हो जाता, और लिखना तो छूट ही गया हमेशा के लिए।

धीरे-धीरे बरसात के कई बादल उमड़-घुमड़ कर बरसे, पर धरती प्यासी ही रही, और पानी चाहिए था उसे। और मैं गाँव से शहर जाने को हुआ। मुन्नी बहुत रोयी, भाभी ने दही गुड़ मुँह में लगाया, और लढ़िया पर बैठा दिया। स्टेशन पहुँचा, तो गाड़ी में बहुत भीड़ थी। इधर उधर भटका, सहसा पद्मा दीख गयी—मामू की लड़की होती थी मेरे। बचपन में साथ खेले थे। लड़ती थी, बाल नोच लेती थी, परेशान करती थी। पर वह क्या हो चली है, जैसे किसी अहेरी मल्लाह की फटी बाँसुरी-सी। बहुत दब कर किसी तरह नमस्कार किया, तो बगल देख कर उसने सिर का कपड़ा और खींच लिया। जाना, कि उसके पति देवता थे साथ, भेंट हुई, तो अनमने से मिले, फिर बताया, तो कुछ तसल्ली हुई। ब्याह हो गया था पद्मा का, पहले भी सुना था, पर

देखा, तो फिर सोचने लगा—ब्याही पन्ना और ब्याही सुशीला; फिर सारी ब्याही लडकियाँ, फिर भाभी की स्नेहार्द्र आँखें, तेजी से पीछे छूटते जाते गाँव के ऊपर उभर आयी थीं। भाभी भी तो एक ब्याही लड़की चाहती हैं। नन्हे-नन्हे से हाथ हों उसके—कमल की पंखुरियों की तरह। सुबह के डूबते हुए तारों-जैसी आँखें और आकाश-गंगा जैसा बेंदा। बेतहाशा हँसी आयी थी, यह सब सोच कर। पर शहर आ गया और मैं गाडी से उतर गया था।

कुछ भी मन का नहीं दीखा। पढ़ाई में रम नहीं, माँ मिसर्च के लिए बिगड़ीं, पिता ने मुँह फुलाया, पर मुझसे हुआ नहीं। अन्त में मास्टरी ले ली एक स्कूल में। छोटे बच्चों को पढ़ाता, तो मन कुछ बहल-सा जाता। इसी बीच शरद् आया और बीत गया। नीम की टहनियों पर चाँद को कितनी बार बैठे देखा, पर मन अटका नहीं उस ओर। पन्ना का पीला चेहरा प्रतीक हो उठा ब्याह का—एक तब्दीली की बात सोचता रहा, किसी बड़े पैमाने पर—ब्याह पर। मशीन की तरह चलने लगा था, कि एक दिन स्कूल के बाद भारी तूफान आया—पेड़ उखड़ गये, बिजली के खंभे गिर पड़े और पुराने मकान ढह गये कितने। स्कूल के बरामदे में देखता, कि कैसे चलूँ घर। बच्चों की बस गयी, तो फिर लौटी ही नहीं। क्या करूँ, कैसे पहुँचूँ। पर रात तक तूफान नहीं गया। दस बजे के क़रीब भीगता-भीगता चल पड़ा। अँधेरा घना था, पर पानी थमा था—एकाएक बिजली चमकी और जोरों की गड़गड़ाहट हुई। फिर बड़ी-बड़ी बूँदें पड़ने लगीं। भाग कर बगल वाले मकान में घुस गया, पहचाना तो सदमा हुआ—सुशीला का मकान। तब तक खिड़की से कोई चेहरा, मोमबत्ती की रोशनी में झाँका और दरवाजा खुला।

"कौन ?"

जी में आया, अभी ख़ैरियत है, फिर जैसे सैकड़ों मन ओले गिर पड़े हों एक साथ। और पीछे से मोमबत्तियों की रोशनी में दो परछाइयाँ हिलीं।

"यह तो मैं हूँ !"

"तुम ! इतनी रात गये !" सुशील डरी नहीं थी, पर घबराहट थी आवाज में। बताया सब, तो अन्दर जाना हुआ, कपड़े बदलने हुए, और उसी ड्राइंग-रूम मे बैठना हुआ। एक बार पद्मा का चेहरा आँखो मे नाचा, पर सुशील तो वैसी ही है। निश्छल अहेरी-सी पुतलियाँ, जैसे किसी काजल की कोठरी से लौटा हुआ कोई बेदाग़ योद्धा। मन के किसी कोने पर किवाड़ नही।

"अच्छा हुआ, जो भेंट हो गयी, वर्ना बुलाने वाली थी, खाना लाती हूँ।"

मेरे खाते समय वह बैठी, आँचल से मोमबत्ती को हवा से बचाती रही।

"बहुत मन करता था, तुमसे बात करने को।"

"कैसी हो ! दुबली लगती हो पहले से।"

"हाँ शादी हुई न मेरी, ससुराल से आयी हूँ; पर तुम्हें क्या पता होगा ?"

"माँ ने बताया था।"

"कब ?"

"उसी समय।"

"तो तुम आये क्यों नहीं ?"

"मन नहीं हुआ।"

"अच्छा ही किया। क्या करने आते, बड़ी गर्मी थी।"

"मन कैसा है ?"

"बड़ा प्रसन्न,मै दुःखी ही कब थी ! अच्छी शादी है—भले है लोग।"

"पर शादी के बाद............"

"रहे जैसे के तैसे—अपने ही जैसा देखा दुनियाँ को, और तुम्हारे लिखने-पढ़ने का ?" उसकी आवाज थम गयी थी।

"नही लिख पाया तब से, अब तो भूल भी रहा हूँ।"

"हाँ, उस दिन तुम नहीं लौटे......" वह कह ही रही थी, कि ज़ोर का झोंका आया और मोमबत्ती बुझ गयी। "मैंने समझ लिया था कि .." उसका गला भर आया था। जैसे वह बोल न पाती हो, और मेरे हाथ उसके हाथों में आ गये थे। फिर सहसा बिजली कड़की, मकान के दरवाज़े खड़खड़ा उठे—और मेरे हाथों पर दो गरम बूँदें, जैसे आकाश से चू पड़ी हों। मैं चौंक गया।

"सुशील!"

"हाँ, तुम डर रहे हो, बत्ती जला दूँ?" और किसी तरह उसने रोशनी कर दी।

"तुम लिखा करो, वर्ना मुझे पाप का बोध होता है। क्यों अपने को मारते हो, मैं उदासी हूँ, इसीलिए न। पहले तो ऐसे नहीं रहते थे।" और उसका गला फिर भर आया। "पर तुम तो आये ही नहीं उस दिन...वर्ना..." वह रुक गयी, जैसे दबा गयी हो अपने को। फिर चलने लगा, तो कहने लगी—

"तुम शादी कर लो तो अच्छा रहे, देखी नहीं कोई लड़की इधर..."

"नहीं देख पाया!"

"अच्छा देखो, मैं किसी दिन घर पर आऊँगी, तो माँ से कहूँगी। लेकिन तुम आना, कुछ लिखना, तो सुनाना।"

मील भर का रास्ता, जैसे कुछ क़दमों में बँध गया। बहुत सारा पास होने पर भी मन बँधा ही रहा। केवल यह संयोग ही प्रधान हो गया उस समय। पद्मा याद आयी, पर सुशीला ने उसे सीमित कर दिया। वह तो कुछ खुली ही थी—सुबह के कमल के समान। कितनी खुश थी, कुछ बोलने के रुख पर थी, तू शादी कर ले...देखी कोई लड़की...मैं सोचता रहा।

रात, ग्यारह बजे घर पहुँचा, तो माँ ने बेचैनी के साथ दरवाजा खोल कर डाँट बतायी। खाने के पहले ही जैसे किसी बोझ को उतारने के लिए कहने लगीं—

"सुना तुमने ?"

"कोई घर गिर गया क्या ?"

"हाँ, वही समझो।" आवाज में दुःख था उनकी।

"वह जो लड़की सुशील थी न, राय बाबू के पड़ोस वाली—तुम्हारी साथी। इसी साल शादी हुई थी—जो मैंने लिखा था कि तुम्हें पूछती है। पर भगवान् ही बिगड़ गया बेचारी पर। उसका आदमी तीन-चार दिन हुए, उसे यहाँ छोड़ गया। कहता था, कि वह ऐसी लड़की घर में नहीं रखता। जब से गयी, उससे बोलती तक नहीं थी। परायी-सी बनी रही। पहले तो लोग न बोले, पर बाद मे उसके पति ने छिप कर उसकी डायरी देखी, तो उसमें एक ही दिन की डायरी लिखी थी—सारा राज उसी से खुला बेचारी का। शायद किसी लड़के से वह प्रेम करती थी। राय बाबू की बहू कहती थी, कि उन्होंने उसे पढ़ा तो आँसू आ गये उनके। शायद किसी दिन उस लड़के को बुलवाया था, बाजार से सुहाग की साड़ी मँगा कर पहनी थी, शृंगार किया था, उस दिन पहली बार। यह सब लिखा था। वे बता रही थीं, कि उस दिन वह साथी नहीं आया। किसी बात से उदास रहता था, यही सब जाने क्या-क्या, लिखा था।"

मैं अवाक् था—जैसे वहाँ न रहा होऊँ। और माँ हवा से बोल रही हो।

पर एकाएक बात का सिलसिला टूटते ही सुशील के घर, मेरे हाथो पर टपकी दो गरम पानी की बूँदे जल उठी, जैसे किसी ने लोहे की गर्म सलाख रख दी हो। मैंने उस हाथ को दूसरे से दबा लिया, पर मेरी नींद उड़ गयी थी। बाहर ओले गिरे थे, पर हवा जल रही थी। पन्ना का चेहरा बेबसी के आँसुओं से धुल गया था पर मुन्ना नहीं था, वर्ना बाजरे से पालकी बना देता उसे इस रात...।

नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना

बड़े जोर की तपन है, हरियरी का कहीं नाम न जस। बस आम-महुओं के सिर पर, टोपी नुमा, थोड़े हरे पत्ते बच रहे हैं। रास्ते पर जैसे किसी ने भाड का बालू बिछा दिया हो। तीन मील की इस खेतार में एक भी बाग़ नहीं—एक भी छायादार पेड़ नही। प्यास लगे तो आदमी तड़प कर मर जाए।

"पानी पी लो भइया, खूब मुचेमुच पेट भर के, नहीं तो पियास लग जाएगी तो परानै गवा समझो।"

लोकई ने, जिसे इस स्टेशन पर ढूँढ़ने के लिए मुझे घंटे भर रुकना पड़ा था, और इसी कारण साढ़े ग्यारह के, साढ़े बारह बज गये थे; बिस्तर सड़क पर रख कर, दूकान के सामने खड़े होते हुए कहा। मेरे बिना कहे साव से मिठाइयो की फरमाइश करने के बाद, वह मेरी ओर देख कर एक तेल से डूबे स्टूल पर से, मक्खियाँ उडाते हुए बोला, "बइठि जाओ, छहाय लो! बडा मरन है इस रस्ता मे।"

उसने मिठाई का दोना मेरे हाथो मे रख कर, भट्ठी से राख लिया।

पीतल की नन्ही लोटिया को मॉजकर मुझे पानी पिलया और दो मिठाइयों के साथ, चार लोटिया पानी ख़ुद चढ़ाकर, मेरे साथ चल पड़ा। पर एक टप्पे को पार करते-करते मेरा हलक सूखने लगा। लेकिन किसी-किसी तरह, एक-एक हरी अड्स की झाड़ियों और ठिगने-बौने पेडो को गिनते, छाया की सभी आशाओ के स्थान पर, लू के थपेडे सहते हुए, हम घर की छत के नीचे पहुँच गये थे।

काकी दहा के दौड़ीं। खटोलिया बिछाते हुए, हाथ-गोड धोने का पानी लाने को कहा, फिर टूटे बेने पर पानी का छिड़काव कर, चुर-मुर चुर-मुर डुलाने लगीं।

लोकई को बारह आने देने थे, पर मेरे पास, दस रुपये के नोट। क्या जाना था कि गॉव मे पैसा गधे की सींग हो जाएगा। छव्वू बरई और मोहन साव के यहॉ से बचनुवॉ लोट आया, पर नोट नही टूटा।

"लगन के दिन हैं न, बचवा! बडा कमात बाडे सौ। कहने के बड़े मनई हैं, खोज आओ तो एक ठो फुटहा पइसा भी न निकली ठकुराने मे।" फिर कुछ रुककर, उन्होंने पनारु पंडित के यहॉ आदमी भेजा, पर वहाँ भी नोट न टूटा। बुचऊ सिह का नाम लेते हुए वे हँसने लगीं, "बड़ा चानस है, तोहरे बुचऊ का। तुम्हार नॉव सुनते ही दउड़ा आएगा, लेकिन बहुत बोलना-डोलना नहीं उसके साथ, आज-काल हुक्का-पानी बन्द है।"

—बुचऊ का हुक्का पानी? मैं अचम्भे मे पड़ गया था। पॉच-छै बरस पहले का वह जमाना मेरे आगे नाचने लगा, जब बुचऊ भीटे से कंकड़ियॉ बटोर कर लाता और डंड बैठक करते समय, उन्ही से गिनती करता। नन्हा, ठिगना, लकड़ी की गॉठ-सा आदमी—आगे के दो काले दॉतो में से, एक का आधा हिस्सा टूटा हुआ और मिट्टी के लोने-से चेहरे मे, घुमची की तरह, जड़ी हुई, दो नन्ही-नन्हीं ऑखे। मुझे देखते ही उसके होट दॉतों पर चढ़ जाते थे और वह हाँफ-हॉफकर होटो के

किनारे आये हुए, थूक के गाज को पोछता हुआ, पंडों बात करता रहता था।

"बालगंगाधर तिलिक, गोखली, मदनमोहन मौलवी, सियारदास और जाने कितने......कॅगरेसी नेता,...गजब-गजब आदमी हैं, भइया! उज्जर, बकुला के पख ऐसा कपड़ा पहिनते हैं। पसेरी-पसेरी भर का खोपड़ा है। बडे-बडे पुलुस दरोगा कुचुर-कुचुर मुंह ताकने रह जाते हैं। मुन्सीपाल्टी वाले हाथ जोड़े खडे रहते हैं। महत्मा गन्धी के मोटर में, बड़े-बडे धनी, बोझ-बोझ भर नोट का पुलुन्दा झोंक देते हैं। औरत-मरद अपना गहना-गीठों दे देती हैं। बस एक ही बात—अन्दोलन करो! सत्त पर चलो! खद्दड़ पहिनो!" और वह रुक-रुक कर बाबा की मोटी जाँघ को अँकवार मे लपेट-लपेट कर तेल लगाते-लगाते, हलाकान हो जाता।

"हमा-सुमा के के पूछत है उहाँ। बड़े-बड़े सेठ साहूकार को गुलाब के फूल जैसन तिरियन के कउनू तरह, दरसन मिल जाता है, लेडी-बूची की कौन बात है?" वह चिढ़ कर उस समय कहता, जब कोई गाँव का मस्खरा बीच मे उसे टोक कर कहता, "तुमको भी मिली थी एकाध माला क्या?"

"ले आये हैं, सुबास बाबू की तस्वीर—जैहिन्न ऊपर लिखा है, नीचे तिरंगा लिए, करटन बने खडे हैं। थोरिक फूलो है उनके ऊपर का गिरा हुआ, न बिसवास हो तो, चल के देख लो।"

"रक्कत हो गया है सारा मुँह।" काकी ने खयाल तोड़ दिया और पखी रोक कर, वे मेरे बालो पर हाथ फेरने लगी। "पक्का मे, पंखा के नीचे रहते-रहते, केतना सुकुवार हो गये हो। तनी लोट जाओ!" और उन्होंने एक लगदी लपेट कर, तकिया बनाते हुए मेरे सिरहाने रख दिया। फिर गगरे से ताजा पानी लेकर पॉव धोते हुए, वे, बहू को पुरनकी खाँड़ का ठिल्ला बताकर, कहने लगीं, "रानी के वियाह की खॉड़ है। बड़े जतन से जोगवत-जोगवत बची है, पर तोहरे कक्का के मारे

रहाइस नहीं है। कभी इमले, कभी सिकेटरी, जब से ई पचाइत बनी दुवार, खनाय गया। बचनुआ एक दिन, स्कूल से लौटा था। गाँव के सब लड़के संग-संग थे। इमले महराज कहीं जाय रहे थे। बच्चा तै बच्चा, उसने जाने कैसे कह दिया, 'रोटी, कपड़ा, तेल दो! सब लड़कों ने चिल्लाकर जवाब दिया...कुरसी छोड़ दो...वरना...' अइसी कुछ" वे शरमा कर हँसने लगीं।

मैंने उठकर बैठते हुए कहा, "तो क्या हुआ ?"

"अरे भइया, इमले तो नाराज न हो गये। तुम्हारे काका से लकटा लगा दिया, अऊर बचनुआ पर ऊ-ऊ मार पड़ी, ऊ-ऊ मार पड़ी, वह तो संजोग कहो बुचऊ बैठा रहें दुवारे, सड़ासड बहस करने लगे और लोग बतावत हैं, गलदाद न दिया इमले को; पर इनको क्या कहे, उनको दुवारे से उठा दिया, सुना वेचारू रो के चले गये।"

उसी समय बचनुआ अजुरी मे पैसा भरे, दौड़ा आया और मेरी चारपाई पर गिराते हुए, अपनी जेब से दस रुपये का नोट निकाल कर, मुझे देते हुए, कहने लगा, "बुचऊ दादा ने कहा है, कि अपने भइया से कहना, शाम को हमारे ही घर खाएँगे।"

"बाप रे, बाप !" काकी बीच मे बोल उठीं।

"क्या हुआ काकी, बस इतनी-सी बात के लिए"

काकी बोलने ही जा रही थीं कि बचनुआ ने एक हाथ उनके मुँह पर रखते हुए, कहा—

"कहा है, कि खसी काटेंगे...एक ही जगह बनेगा। सब लडके जुटेंगे गाँव के..... और.. और...कहा है, पइसा दे देना...नोट भी दे देना, दस का फुटकर नही है।"

उसी समय काका बाहर से बिगड़ते हुए घर में घुसे, "पचाइत के बक्से मे रूपया नहीं था, कि भेज दिया उसके घर, यह बार-बार की आवा-जाही ठीक नहीं है।" फिर कुछ नरम होते हुए, "क्यो इतनी

धूप मे चले आये, रुक जाते वहीं बजरिया में। अच्छा कुछ खा-पी कर सो रहो !" और वे बाहर चले गये।

"कहो बचवा, चन्ना का रुपिया हम कहाँ छुई ? यह तो जबसे कगरेस-कमेटी के लेम्बर भये, अकिलियै मारि गयी इनकी, छोट-छोट बात पर लड़ा करते हैं, बस रात-दिन चन्ना, कदम-कदम पर चन्ना। जो यह बचनुआँ है न, हर महिन्ना स्कूल मे एक न एक चन्ना देई, हमरे नाको दम है, परसों मनिस्टर साहब आवैं के रहे, तो दिन भर लाठी-गोजी रगत रहा, दो बजे से डगरे मे खडे-खड़े, साँझ हो गयी, पर नहीं आये। नन्हे-नन्हे बच्चे, हकसे-पियासे घर लौट आये। जानकी के बेटौना के तभी से जर चढ़ा है...सब कहते हैं लू लग गयी है। भगवान जाने।" काकी कहते-कहते खाना ठीक करने के लिए उठ गयीं और बचनुआँ जल्दी-जल्दी बेना डुलाने लगा।

खाना खाकर लेटा, तो हवा के तेज झोंको की साँय-साँय कुछ कम पड़ने लगी थी। लू की लपटें, मिट्टी के पटौंवे घर मे, बहुत कम लग रही थीं फिर भी काकी कई बार आतीं, बेना डुलातीं और किवाड़ी उठगा कर वापस चली जातीं। बचनुआँ ताखे में रखी, कौड़ी को लेकर खन-खनाता हुआ भागा तो, वे फिर बिगड़ीं, "बुचऊ के दालान में न जाना, नहीं तो मार पड़ेगी, तो मैं नहीं जानती।"

मै समझ नहीं पाता था कि क्या बात है, जो बुचऊ निगाह से इतना गिर गया, आखिर यही काकी तो घटों उससे हँसी-चिबोला करती रहती थीं।

—एक गगरा पानी बबुआ......तोहरे हथवा का बड़ा मीठा लगता है।

—रख न लो भउजी। पानी ही भरा करूँगा।

बाज़ार से चुपके से धोती मँगानी हो, तीज-त्यौहार का सामान करना हो, उधार-बाढ़ी पैसा मँगाना हो; सबके लिए बुचऊ, यहाँ तक कि

परिवार के बड़े से बड़े मौके पर, वह काम आता । परिवार की गोपनीय से गोपनीय बातें उसे मालूम रहतीं ।

काका चन्दे के लिए एक बार बम्बई गये तो लौटने पर बुचऊ का किस्सा कहते-कहते लोट-पोट हो जाते । "चौपाटी पर उसे ख़बर मिली कि मैं आया हूँ । बस, आव देखा न ताव, कॉवर कही एक दूकान पर पटकी और ट्राम पकडकर तारदेव पहुँच गया । मै बाहर जा रहा था पर बुचऊ तो बुचऊ, 'बिना चाय-पानी कैसे बनी, भइया ! बिस्सास नही होता है कि तू आये हो ।' और वह पकड़ कर एक होटल ले गया, दसियों रूपये फूँक दिया । घर लौटते-लौटते, सीधुर-टिकुली से लेकर साड़ियाँ, जम्पर, ब्लाउज, बचनुओं के लिए कपड़ा और काकी के लिए बम्बा देवी का प्रसाद देते हुए कहने लगा, 'तोही लोग तो हो भइया ! नहीं तो हम सुराजी पाल्टी मे भरती हो जाते ।' फिर उसने जवाहिरलाल, महात्मा गाँधी, सबकी छोटी-छोटी तस्वीरें काका को दी थी ।

बुचऊ को अपनी एक बेटी सरधा के अलावा कोई नहीं, मेहरारू मर गयी तो उसने कहा, "नार मुई, घर सपत नासी, मुड मुड़ाय होब सन्यासी" और वह सरधा को मेरे घर छोड़कर, बम्बई चला जाता । सात-आठ महीने कमाता, फिर बहुत सारे कपड़े, गहने, सामान लेकर लौटता । गॉव मे सबको सिगरेट की डिबियाँ और साबुन देता । गॉजा की पोटली खोलता और ऊपर से महात्मा गाँधी का सदेश पिलाता ।

"चमार, मुसहर, भर, पासी...सबके हाथ मिलाये से देसवा जागी । गन्ही जी उनहीं के हैं । कहत रहे चौपाटी पर कि, वही हमको सबसे पियारे हैं । उनही का हूँ । देश है गरीब लोग का । सुराज मिलते ही इनका राज लौट आयी" और वह गॉव की छोटी जातियो को, घूम-घूम कर आश्वासन देता है कि "भाई तुम्हारा राज है...अन्दोलन मे हाथ लगाये रहो । रजिन्दर बाबू कॅगरेस के मालिक हैं, उनही की बात मानो ।"

मुझे ख़ूब अच्छी तरह याद पड़ता है जब वह एक दिन, एक रात बिना अन्न-पानी के रोता रहा था । अपनी लाल रग की जाँघिया और

खाकी कमीज चरवाहे को दे दी थी। बिगुल गाँव के लड़कों को दे दिया था और जैहिन्द का सुभाष बाबू वाला बिल्ला मुझे देते हुए कहने लगा था, "धरे रहना बच्चन! अब तो हमें सब बड़ा उदास लगता है। का हो गया महतमा के, रजेन्नर बाबू के, जवाहिर लाल के...हाय रे नेता जीव, न भया तू एहि मौके पर" और वह खाए-पीए बिना, बाजार जाकर लाये हुए अखबार को नोचने लगा था।

"हम तो जाने झूठ ही उड़ा है...फिरंगिया की कोई गोटी है। कल रात सुना तो सबेरे बजार से परचा लेने गये। अखीर में बटी गया देसवा।

"सरदार बल्लभ भाई कहवाँ रहे? समझात नहीं कुछ।" और जब सबेरे सभा हुई तो सब लोग बुचऊ सिंह को सुनने के लिए उतावले हो रहे थे। गाँव के किसान कहते, "भाई हम कैसे जानें कि अजाद हो गये...अँगरेज चले गये...हो ही नहीं सकता। भइया, सुई की नोक भर के लिए तो महाभारत भवा, और ई सोने की चिड़िया छोड़ कर जाएगा अँगरेज...ना...ना...बुचऊ सिंह कहें तो मानें। वही कहेंगे तो दिया-बत्ती होगी। नही तो, कौन खरचे तेल-बाती? घर की डरदी जेगरे में डाले।"

काका ने बहुत समझाया, बहुत कहा, पर बुचऊ तख्ते पर नहीं गया। फिर जब सभा से शोर होने लगा, तो वह अपने गमछे को लपेटते हुए धीरे से तख्त पर चढ़ा। मुझे ख़ूब याद है, वह रो पड़ा था, "हम कुछ कह नही सकते हैं, मुदा परचा मे बचाय के सुना, तो सब जान पड़ा। हम तो खाली लड़ना सीखे थे...इसी से अजादी आवै वाली रही। जवहिरो लाल, गन्हियो महतमा इहै कहे थे, 'देसवा हमरे जीव के समान है—कैसे बटी?' का होगा, अस सुराज लेके। मुदा सरधा-भगती से परनाम करो! कुछ भवा जरुर है गड़बड़। महतमा का, जवाहिर लाल का, हिन्न का नाम लो! हमरे मन मे तो अन्हियार छाय गया है।"

उसी के बाद बुचऊ बम्बई गया था, पर पता लगता था, अब वह परचा ख़रीदकर, हमारे गाँव के मुंशी जी की खोली नहीं जाता, न तो

उनसे परचा पढ़वा कर सुनता है। वह काम-धंधे पर से भी हट गया है। दूध की काँवर ढोई नहीं जाती, उससे। घाटी-मरहठी औरतों की कतरनी-सी जबान सहने का साहस उसमें नहीं रहा। इसीलिए वह कभी तरकारियाँ बेचता है, कभी फल, और शाम को भैंइसवारों के तबेले में, चिलम पर फूँक देता है।

कई साल से तो सरधा को महाजन की दूकान बताकर, बम्बई जाने लगा है। एक-दो बीघे जमीन भी उसकी अपनी थी, पर वह भी धीरे-धीरे चली गयी। एक-एक करके पेड़-पालव भी उसने बेच दिये...

मेरे विचार-सूत्र टूट गये। काकी ने धड़ से दरवाजा खोला और कहने लगीं, "दुलारा आजी बैठी हैं। पावलागन कर लेना बचन! बेचारी बहुत पूछती हैं।" मैं चारपाई पर उठ बैठा...आँगन से घाम चला गया था। बहुत शाम हो गयी थी। पर बाहर होने वाली बात सुनकर, बैठा रहा...

"अरे मरकिनौना अधरमी हो गया है। चमार-सियार का छुवा-छिरका खाये से, अऊर का हो सकत है" फिर कुछ रुककर "ये बचवा, सुना है न!" जैसे कोई गोपनीय बात कह रही हो, "कोई घाटिन औरत राखे है बम्बई में, इसी से त कमाई-धमाई देखाती नहीं। कहाँ, आग पर गयी। सब तो उहै अदमियाँ हैं, उहै कमइया हैं, ओही मुँह फुकौना के बज्जर पड़ गया।" दुलरा आजी कह चुकी थीं, अब काकी कुछ बोल रही थीं।

"एक इनहूँ आदमी हैं न मइया...कँगरेस के जिलवा भर के मालिक, मुदा बात जो चाहे कर लें। भला कह तो दो, किसी का छुआ पानी पीने को। कहते हैं, 'सिधानत मानै से, करै से अन्तर है।' एक खद्दर का कुरता-धोती धरे हैं। मिटिन में जाना होई, तो पहिन लेंगे, फिर घर लौट कर जैसे के तैसे।"

"यही धरम है, ए बचिया। सबको इतना गियान कहाँ? कहा है, 'बाढ़ैं पूत, पिता के धरमें।' बड़े बाप के बेटा हैं न!"

मैं बाहर निकल पड़ा, बात समझ में आ गयी थी। शायद वह काका का विरोध करता है। किसी नयी पार्टी में चला गया बुचऊ। मैंने सुना, दुलरा आजी आशीर्वाद वर्षा रही हैं, तो चाची की ओर देखने लगा। उनका चेहरा उतर गया था। मैंने आजी को प्रणाम किया और बाहर चला आया।

बचनुआँ कोली में से दौड़ा आया और मुझे दूर बुलाकर कहने लगा, "बुचऊ दादा बुला रहे हैं। कलवा बन गया है, कहते थे, ठंडा हो रहा है। बचन को जल्दी से बुला लाओ।"

मैं बहुत उदास था। एक तो दिन की थकन, दूसरे ये सारी बातें। आखिर गाँवों से यह अँधेरा कब जाएगा? अब तो हम, ऐसे सब कुछ पाकर, स्वराज का सुख भोगने लगे हैं। हमारे भीतर का आदमी कहाँ चला गया? मैं सोचता-सोचता, बुचऊ के दरवाजे पहुँच गया। वह उदास बैठा था। मुझे देखकर फिस से हँस के रह गया, जैसे किसी गुब्बारे से हवा निकल गयी हो। सरधा ने कटोरी में कलवा दिया। मैंने हाथ में लिया ही था कि, वह कहने लगी, "मैं तो समझती थी, नहीं आओगे, भैया! काकी-काका ने…" उसे देखा—बहुत चौंक कर, यह कैसी हो गयी? इतनी बड़ी! इतनी सुन्दर! लाल किनारे की पीली-पीली धोती पहन रखी थी, उसने। झुक कर पाँव छूते-छूते उसका चेहरा लाल हो गया, मन की तहों में खराश लग गयी,—इसकी शादी होनी चाहिए, पर बुचऊ की ग़रीबी? मैं चुप रह गया। सहसा खयाल आया, ऐसे कैसे काम चलेगा? तो बुचऊ से हाल-चाल पूछने लगा।

"हाल—चाल के दिन लद गये बचन, अब तो जीव जी रहा है। समझो जितने दिन चले यह काया।" इसी बीच सरधा मिट्टी के तेल की ढेबरी, दीवट पर रख गयी। मैंने इधर-उधर देखा, लोग आ-जा रहे थे पर कोई वहाँ न तो रुकता था, न बैठता था। हवा बहुत धीरे-

धीरे चलने लगी थी। बुचऊ के, दरवाज़े की पोखरी के कारण, ठंडा था। मैंने कहा, 'कुछ राजनीति की बताओ, दादा !"

"राजनेत तो गन्ही महतमा के साथ चली गयी बच्चन ! विचार नाहीं रहा अब, अउर बिना बिचार को नेति कहाँ ? देखा न..." वह बोलता जा रहा था। "अब काम-धंधा सब में बेबिचारी आ गयी। जो कुछ आग-पानी हिरदय में रहा, वह बुझाय गया। हमका छोड़ा, नेता लोगों को देखा, उनका भी वही हाल। जिस कुरसी पर बैठ गये—बस वह उनकी हो गयी। अब तो कुरसी की नेति है। गन्ही महतमा का कुल काम-धाम धरा रह गया।"

"हो तो रहा है बहुत कुछ दादा।" मैंने उत्सुकता से कहा।

"क्या हो रहा है। धरम के नाव पर, जाति के नाव पर ओट उगहात हैं। ठाकुर के ठाकुर, बाह्मन के बाह्मन, कहाँ गयी गरीबी ? कहा गया छूवा-छूत...? अब बिचार नहीं रहा, बस ओट रह गया है।

"गडबड़ तो यह है, कि लोक में से बात की मर्जाद उठ गयी। कहने करने में भेद हो गया। गन्ही महत्मा कहते रहे, कि कउनो देश की आपन मरजाद होती है...आपन एक चरित्तर होता है, मुदा वह सब बुझ रहा है। वे आन्हर हैं, जो इसे नहीं पहचानते।

"हम तो देखते हैं न, परदेश में—देश में, कि एक-एक आदमी कहाँ से कहाँ पहुँच गया। जो एक बुराई से लड़ने की बात रही—अपने भीतर की हो या बाहर की—कुछ खोय के भी, सत्त पर, अहिनसा पर डटे रहने की बात थी—सब चली गयी।"

मैं स्तब्ध था, बुचऊ की बात सुनकर। कुछ कहते नहीं बनता था। मैंने पानी पीया, और फिर उसकी बातों में खो गया...

"वे सब आन्हर हैं बच्चन, जो देखके भी भूलते हैं। किसी देह में जब बीमारी से लड़ने की सकती नहीं रहती है, तो चाहे जो रोग खा ले जाए, कहा नहीं जा सकता है ?

"अपने के देखो न ! भइया दस हजार तिलक ले रहे हैं—तुम्हारी

शादी के लिए। का अइसा वियाह होना चाही, पढे-लिखे लरिकन का। बस नौकरी मिल जाए के चाही। नहीं तो महतमा के कहने पर कितनो ने व्याह नहीं किया, कितने जेल गये, नौकरी-चाकरी छोडे, स्कूल छोड दिये—असहजोग में, नून मे, अब तो एक-एक कौडी छोड़ने मे नानी मरती है। मुदा सब ठीक है ..सब, कैसे कोई के...हमही का कहीं हमही," और वह खो गया था। स्वयं उसे लगा जैसे वह अपने साथ वेइमानी कर रहा है। मैंने इधर-उधर देखा, पर चारों ओर बुचऊ—वही ठूठे बाल—कॉटों की तरह, आगे के दोनों काले दॉतो मे, एक आधा टूटा हुआ और माटी के लोदे मे बुझी हुई, दो घुमची की तरह आँखें ..

घर आ गया, दहलीज में गहरा अँधेरा था पर काका की आवाज साफ सुनायी दे रही थी, काकी को डॉट रहे थे, "कुछ इज्जत-बात का ख़याल भी है उनको, एम० ए० तो पास कर लिया। मैंने गॉव भर को रोक रखा है, पर वे ही जाकर उसके घर खाना खा रहे हैं। आज सब पक्का पता चल गया कि, ससुरे ने नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना लिया है सरधवा की शादी के लिए। बेटी का बेच खाकर जिएगा,

चाची जैसे भौचक्की होकर कह रही थी, "नौ सौ रुपिया और एक ऊँट दाना!"

"हॉ हॉ, पर उनकी यही हाल रही, तो हम भी कही के नहीं होंगे। मना करने पर भी, उसके घर चले गये, तो पूछ लेना, शायद शादी पर भी कुछ कहना हो उनको।"

मै उलटे पॉव बाहर लौट आया और चारपाई पर लेट गया।

वह बेटी बेचता है—बेटी, और, और बुचऊ के मिट्टी के लोंदे की तरह के मुँह में निकले डेढ़ काले दॉत, मुझे चिढ़ाते रहे—वे विचार की नीति कहाँ? जो कुछ आग-पानी रहा, वह तो बुझ गया..."

साबुन

तीसरी बात का कोई सिलसिला न जुड़ा, तो बटुक ने झुँझलाकर कहा "कौन ऐसी बात कहता है, मुन्नू की माँ! तुम तो ऐसे मेरा सिर खाये जा रही हो, जैसे कोई लड़के की कमाई खाने के लिए ही जी रहा है। ऐसा जाँगर नहीं टूट गया है। पढ़ाई-लिखाई ही सब नहीं होती, मुन्नू की माँ। उसका तो नाम बाप को मिलता है। लड़के का काम तो इसके बाद शुरू होता है। शेर सिंह के बेटे को नहीं देखा, बी० ए० पास करके कलक्टर हो गया। माँ-बाप का मन कब भरता है? कौन नहीं चाहता कि बेटा कुछ कमा-धमाकर सुख भोगे। दुनियाँ देखे तो कहे कि, किसी माई-बाप का लड़का हो तो ऐसा..."

"सो तो मैं कब से सुन रही हूँ, जी! कभी शेरसिंह का लड़का, कभी मजिदिया का नाती, कभी का मुनियाँ का भतीजा! बस यही तो रह गये हैं तुम्हारे आगे। जब तक लड़का पढ़ता रहा, तुम रट लगाये रहे, क्यों नहीं वह भी उनकी तरह घर से नून-लकड़ी ले जाता, चूल्हा फूँकता; छुट्टी में गाँव आता है तो क्यों नहीं घर-द्वार का काम देखता। अब नौकरी की

सनक हो गयी है, तुम्हें। रोज कहते रहते हो, 'उमिर बीती जा रही है, लड़के घर-दुवार चेतते हैं, खेत-खलिहान देखते हैं।' आखिर साफ क्यों नहीं कह देते, कि अब वह तुम पर भार हो रहा है। नाक में दम कर दिया तुमने। खाते-पीते, सोते-जागते, 'मैंने पन्द्रह हजार खरच दिये, मुन्ना की माँ!'...तो सूद जोड़कर बेच क्यों नहीं लेते ?

माँ को जैसे गर्म हवा के झोंके ने झुलस दिया हो। कितने दिनों से पति की बातें सुनती-सहती आ रही थी, वह, पर राजेश के कानों कभी किसी बात की भनक न होने दी। उससे तो कहती थी, "आखिर किस दिन के लिए है यह जगह-जमीन, मुन्ना ? तू पढ़-लिख लेगा, इलम-हुनर आ जाएगा, तो हमारी कोख सुफल हो जाएगी, बेटा!..."और राजेश की आँखें भर आती थीं। वह कितनी ही बार माँ के आँचल में मुँह छिपाकर नन्हें बच्चे की तरह रो पड़ता था। पति की झक से दुःखी होने पर भी वह बेटे से कहती "बड़े झंझट में हैं न तेरे बापू मुन्ना! तेरी बहन को शादी से टेंट खाली हो गयी है। फिकर बड़ी खराब होती। इधर बहुत दुबले भी तो हो गये हैं। कभी-कभी तो मुझसे सब कह डालते हैं। कहते हैं, 'सोचता हूँ; मुन्ना की माँ, राजेश को शहर में एक घर बनवाकर, बसा कर, छुट्टी लूँगा।' सब करेंगे, बेटा! तू इधर-उधर की न सोचा कर।वो बड़े हैं न! बड़ों की किसी बात का बुरा नहीं मानते।"

पर माँ का धीरज सहसा किसी तेज धार में अटके हुए वृक्ष की तरह एक दिन उखड़ गया। कब तक वह आग पर राख डालेगी ? कब तक वह बेटे को भरम में डाले रहेगी ? कब तक, कब तक ?...उसका सिर चक्कर खाने लगा। उसे लगा, कि तूफ़ान को देखकर भी किश्ती के पाल को उसने नहीं खोला। क्यों जुगा-जुगाकर रखा उसने ? किसलिए ? वह धम से अपने घर के दरवाज़े के सहारे बैठ गयी, किवाड़ की जंजीर झनझना उठी।

कितनी छोटी-सी बात थी! उसने एक बट्टी साबुन ही तो लाने को कहा था। महीने भर हो रहे हैं राजेश को आये। छः महीने तो हो गये

भटकते नौकरी के चक्कर मे। नहीं मिलती कोई नौकरी, तो क्या परान दे दे, या वह ही उसे घर से निकाल दे? कैसी हालत हो गयी है! कपड़े-लत्ते कितने गन्दे पहनने लगा है! माँ की आँखें भर आयी। नहीं कमाता, तो क्या हुआ? क्या उसके कपडे भी वह साफ नहीं रख सकती और वह एक बट्टी साबुन भी नही ला सकते, उसके लिए? चार दिन से कह रहा था, 'माँ, बनियाइन से बदबू आती है। अब तू मेरे कपड़े भी नहीं देखती, मै ऐसा हो गया, माँ?' और वह भरी-भरी आँखो से देखता, बाहर चला जाता था। लेकिन माँ का कलेजा तो पत्थर का टुकड़ा हो गया है। तब से चार दिन हो गये, वह कुछ नही कहता। वही कपड़े पहन कर कही आते-जाते उसकी आँखें झुक जाती हैं। और यही बात उनसे कहती हूँ, तो कहते हैं 'कहाँ लाट-गवन्डरी करने जाना है, जो उजला कपड़ा पहनकर जाएगा? किसानो के लड़के ऐसे ही रहते हैं। साबुन के लिए, मै अपनी देह तो बेचूँगा नहीं।...'

माँ के सीने मे, जैसे किसी ने कसकर घूँसा मार दिया हो। उसने सहसा अपने सीने पर हाथ रखा, तो वह तेजी से धक्-धक् कर रहा था। उसका शरीर पसीने से तर हो चला था। उसने ऊपर देखा, बखरी के कोने-कोने मे गहरी उदासी छायी हुई थी। कहीं एकाध गौरैयाँ के जोडे चूँ-चूँकर देते थे और आसमान के एक कोने से बादल का गहरा काला पहाड़ मुँह बाये उठा आ रहा था। उसके मन मे सहसा भय रेंग आया, ऐसे बादल तो उसने कभी नही देखे थे। ये घर उजाड़ देंगे मेरा।...बहुत पुरानी पड़ गयी है बखरी, कही गिर गयी, तो? सोचते-सोचते वह ऊपर को देखती हुई उठी, तो उसके पैर पर कुछ गिर पड़ा। उसने उसे उठाया, पहले जोर से हाथो में दबाया, सीने से लगाया और दोनो हाथो से उसे चेहरे पर रगड़ते हुए फफक-फफककर रोने लगी। उसके भारी होठ अनायास बुदबुदाने लगे, "ऐसे बदबूदार कपड़े तो कभी तुझे छूने भी न देती थी, बेटे! असगाँव-पसगाँव से यही तो कहा जाता था कि बेटा कोई रखे, तो मेरी तरह। कितनी

ही बड़े घरों की औरतें जलती थीं मुझसे......कभी एक वक्त का पहना कपड़ा दूसरे दिन नहीं पहनने देती थी तुझे और आज...क्या तू बड़ा होने पर बेटा नहीं रहा ? क्या हमारा मोह इसीलिए था कि तू पढ़-लिखकर, कमाकर रुपये लाएगा ?" माँ की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। बादलों के पहाड़ कुछ और ऊपर को चढ़ आये थे। हलकी हरहराहट धीरे-धीरे कानों में भरने लगी थी। बीच-बीच में एक अजीब-सी भुन्नायी हुई घुमड़न बादलों के नाराज चेहरे को और भी खूँखार बनाती जा रही थी।

—यह बादल बड़े डरावने हैं, बड़े अशुभ, बड़े...,माँ की नसों में जैसे बिजली दौड़ गयी। क्या करूँ इनके लिये ? घर के दरवाजे बन्द कर लेने चाहिए, पर बाहर दहलीज में वो हैं न ! माँ जल्दी-जल्दी बाहर गयी, पर वहाँ कोई नहीं था। चारपाई के पावे से उठँगे हुए हुक्के से धुएँ की एक टेढ़ी-मेढ़ी लट ऊपर लहराकर, खोती जा रही थी। अभी ही गये हैं, लगता है। बाजार तो नहीं चले गये ? हाय राम ! कैसे लौटेंगे इतनी रात को पानी-तूफ़ान में ? उसका डर और बढ़ गया। उसने ,जाकर हुक्के को उठाया, उसकी नली अब भी गर्म थी, चिलम की आग अब भी धधक रही थी। इधर-उधर झाँका, पर कहीं पता नहीं चला। जरूर चले गये बाजार, जरूर...उसका सिर लटक गया, उसकी आँखें जमीन में धँस गयीं। उसने ऐसा कभी नहीं कहा था उन्हें। ऐसी कड़ी बातें तो वह बोलती ही नहीं थी कभी। तो क्या हो गया था उसे ? उसने अपने एक हाथ को दूसरे पर रखा और एकाएक फिर बीच में बनियाइन...साबुन लेने गये होंगे शायद। राजेश भी तो शहर गया है, वह सोच ही रही थी कि जोर की चमक हुई, सामने दूर तक गहरी कालिमा के बीच, जैसे रोशनी का एक पर्दा उठ गया हो और सवाँ-मकाई की हरी-हरी पत्तियों पर बिजली की रेखा खिंच गयी हो। माँ को लगा, जैसे यह सब डर गये हैं, इस चमक से। जल्दी भागकर घर में चलना चाहिए, वर्ना सब डूब जाएगा। उसने

दहलीज के दरवाजे उठगाये, तो बैलो के डाकराने की आवाज से वह पागल हो गयी। क्या करे, वह इन जानवरों को कहाँ छिपाए, कहाँ ले जाए? उसने दरवाज़ा फिर खोला, तो धवरी की बछिया चौखट से सटी सिकुड़ गयी थी। पानी की सरसराहट से पौधों की पत्तियाँ झुक गयी थीं।

माँ बाहर निकल पड़ी। चरही पर बँधे बैल पेर रहे थे। उनके पगहे कीचड़ में लथपथ हो गये थे। वह एक के खूँटे के पास झुकी, उसे खोलकर किसी तरह छोड़ा ही था कि ज़ोर का पानी बरसने लगा। लेकिन दूसरे का क्या होगा? वह तो मरकहा है न! वह सोच ही रही थी कि बैल उसकी ओर झपटा और खूँटे के साथ तुड़ाकर उसके ऊपर आ गया। वह भागना ही चाहती थी, पर खूँटे से बझकर एक ओर को लुढ़क पड़ी। उसके घुटने फूट गए और बैल तेज़ी से भाग गया।

गोली की तरह पानी की बूँदें, ज़मीन पर गिरने लगी। माँ को सुधि कहाँ! थोड़ी देर तक वह वैसे ही भींगती रही। होश आने पर वह धीरे-धीरे उठी, तो उसके कपड़े कीचड़ में लथपथ हो गये थे। फिर सहसा चमक हुई और जोर से बादलों की गरज हुई। माँ ने अपने कान बन्द कर लिये और ज्यो ही एक पैर उठाया कि दूसरे मे जैसे कोई चीज फँस गयी। वह चौंक पड़ी, साँप तो नहीं है? उसने नीचे देखा, वही बनियाइन! उसका जी काँप गया। राजेश की गाड़ी आएगी इसी समय, फिर वह कैसे आएगा अकेले टीसन से, इतनी दूर? लेकिन हो सकता है, उनसे भेंट हो जाए बाजार मे और दोनो साथ ही आएँ।...उसका मन धीरज खोजने लगा। धीरे-धीरे वह घर मे गयी और दहलीज का दरवाजा बन्द करके आग की बोरसी ढूँढती रही। देर तक सनई को आग पर फूँकने से रोशनी हुई, तो माँ को ढारस बँधा। उसने ढिबरी जलायी और अपने फूटे हुए घुटने को देखने को झुकी, तो हाथ की बनियाइन उसकी नाक से छू गयी। उसे लगा, राजेश कह रहा है, माँ, अब तो तू मेरे कपड़े भी नहीं देखती न?..."उसका दो पल पहले बँधा हुआ सारा ढारस जैसे किसी प्रेत के

मजबूत पंजे में कसकर चूर हो गया हो। वह अपने को ही खोजने लगी, कहाँ हूँ मैं ? क्या हूँ मैं ? मैंने ही यह सब किया है। मैंने ही बिगाड़ा है सारा घर, वर्ना खेती-बारी देखता, मोटा खाता-पहनता, जैसे सब रहते हैं, वह भी इसी घर में पड़ा रहता। अब तो उसके पंख निकल आये हैं। उड़ने के लिए जगह चाहिए।...माँ की आँखें सामने टिमटिमाते हुए दीपक पर टिकी हुई थीं। बाहर बूँदों की दीवार थी और भीतर माँ की देह। उसके कपड़े भींग गये थे, पर उसे साहस नहीं होता था कि उठे और कपड़े तो बदल डाले।

सहसा दरवाजा खटका और माँ ने बनियाइन अपनी धोती में छिपा ली। राजेश ही होगा। ऐसे ही खटकाता है दरवाजा। और वह तेजी से पहुँच गयी दरवाजे पर, और खोला, तो भीगा हुआ कुत्ता शरण खोज रहा था। उसे देखकर वह कुछ चिढ़ी, "तो तुम भी रह गये थे बाहर !" दरवाजा बन्द करने लगी कि जोर का झोंका आया, दरवाज़ा भड़ से खुल गया, पानी की बौछार से घर का आधा हिस्सा भींग गया। एकाएक चमक हुई और बिजली ऐसी कड़की कि माँ की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं, जैसे किसी ने ईंट पटक दी हो उसके सिर पर। फिर उसके दिल में सहसा बिजली गिरने की बात कौंध गयी।

जब इतने दिन नहीं गये, तो आज ही क्या पड़ी थी बाज़ार जाने की ? वह अस्फुट स्वरों में बुदबुदायी, छः आने की ही बात तो थी, जब इतने पैसे खरच दिये तो...उसका ध्यान अपने हाथ-पाँव की ओर चला गया। कीचड़ में सब लथपथ था। अगर राजेश आ गया अभी और उसे नौकरी मिल गयी हो, तो वह उसे कैसे प्यार करेगी, कैसे सीने से लगाएगी ? वह उठ खड़ी हुई, धीरे-धीरे बाहर गयी। बारिश का ज़ोर अभी वैसा ही था। आँगन में पानी भर गया था और चौखट के ऊपर से धीरे-धीरे घर में आने लगा था। माँ की बेचैनी बढ़ गयी। आखिर आज क्या होने वाला है, भगवान् ? उसने मन में कहा और दरवाज़े से बाहर सिर करके बादलों को देखने लगी। पर कुछ भी दिखायी नहीं

दिया। वह थक गयी थी। भीगे हुए कपड़ों में उसे सर्दी लगने लगी थी। उसने थोड़ी और सनई आग पर डाल दी और अरगनी पर से धोती उतारकर बदलने ही जा रही थी कि फिर दरवाजे की आवाज से चौंक उठी। भीगा हुआ राजेश...और उसने आज कुरते के नीचे बनियाइन भी तो नहीं पहिनी है। लेकिन वह तो होंगे साथ।...

दौड़कर उसने दरवाजा खोल दिया। पर यह तो हवा थी। मै कैसी हो गयी हूँ, वह सोचने लगी और लौटकर धोती बदलने लगी। अगर इसी बीच वह आ गये, तो ? उसने लपककर बनियाइन उठा ली और अपनी बन्डी मे छिपा लिया। अभी पानी मे धोकर सुखा लेती हूँ, फिर देखा जाएगा। पर एकाएक बिजली की चमक ने माँ की आँखें बन्द कर दीं। उस दिन दोपहर का पूरा दृश्य उसकी आँखो मे नाच गया।

—बनियाइन धो दी, माँ, तुमने ? लगता है, बाबूजी खुश हैं आज-कल। साबुन लाये हैं क्या ? मेरे दो कपडे और धो देना, माँ ! परसो सहर जाना है। और उसने लपककर अरगनी से बनियाइन उतारी और उसे सूँघते ही फिर जैसे उसका चेहरा उतर गया और बापू का कहना कि भाई, अब मुझसे नहीं चल रहा है, देखो कहीं कोई काम-धधा, उसके कानो मे गूँज गया था और वह तेज़ी से बाहर चला गया।

छै महीने मे राजेश क्या से क्या हो गया ! फिकिर मे हड्डी भी सूख जाती है, माँ सोचने लगी। सोचते-सोचते वहीं बगल मे पड़ी चारपाई पर बैठी, तो हल्की आग की आँच की गर्मी और बारिश के स्वर ने उसकी आँखे बन्द कर दीं।

—बड़ा प्यारा बेटा है तुम्हारा, दीदी ! कैसे इतना साफ़-सुथरा रख लेती हो, इस गाँव की धूर-माटी मे ? उसकी शहरी बहिन पूछती है और राजेश को गोद मे कस लेती है।—जैसे संगमरमर ही पर तो चलता है रात-दिन ! कहाँ मिलता है इतना साबुन कि हरदम बकुले के पर की तरह चमकाये रहती हो ?

—क्या करूँ ? यहाँ के धोबियो की न पूछो ? कपड़े को और भी

गन्दा कर देते हैं। गाँव की पोखरियों का पानी जानती नहीं! कई बार तो राजेश के कपड़े उबालने पड़ते हैं और वो हैं कि जब बाजार जाएँगे, साबुन की बट्टी लेते आएँगे। जरा-सी धूल लगी नहीं कि...

—अब काम नहीं चलता, मुन्नी की माँ! कर्ज़ बढ़ता जा रहा है, भाई! राजेश से कहो, इतना खर्च न किया करे। गाँव के लड़कों को नहीं देखती, नमक-तेल तक घर से ढोकर ले जाते हैं, अपने हाथ से रोटी ठोकते हैं, पढ़ते हैं। लेकिन तुम्हारे राजेश के मारे, भाई, नहीं चलती...

बारिश धीरे-धीरे बढ़ने लगी थी। एक बार जोर की बिजली की तड़क हुई और माँ ने करवट बदल ली। दो-एक बार वह कुछ अस्फुट स्वर में बुदबुदायी।

—चार महीने की फ़ीस, इम्तहान की फीस, कपड़े के लिए रुपये और बाकी खर्च, अबकी दो सौ चाहिए! मुन्ना की माँ! कोई नहीं देता एक भी पैसा।

—यह मेरे जेवरों का बकसा है। किस दिन के लिए है यह सब? अब सब कर-कराके आखिर में थोड़े के लिए पीछे क्यों हटोगे? राजेश जैसा रहा है, वैसे ही रहेगा। क्या हम मर गये हैं, जो वह अपने हाथ से खाना बनाये? छाती पर पत्थर रखकर, जिसे आँखों की ओट किये हूँ, जिसे कभी मैंने तिनका तक न तोड़ने दिया, उसे कहूँ, लकड़ी-चूल्हा... वह हड़बड़ाकर उठ बैठी, कमरे में कपड़ा जलने की बदबू भरी हुई थी। इधर-उधर देखा, तो बोरसी की जलती हुई सनई पर राजेश की बनियाइन गिर पड़ी थी। वह चिल्ला पड़ी, "कैसा अशुभ हो गया यह!" उसकी आँखों के आगे अँधेरा छा गया। उसने बचे हुए टुकड़ों को लेकर अपने हाथों में दबा लिया। तभी दरवाजे पर दस्तक हुई। वह घबरायी हुई दौड़ी गयी और दरवाजा खोला, तो बटुक अपराधी-सा खड़ा था। पानी में भीगकर उसका सारा शरीर सिकुड़ गया था और उसकी आँखें झँपती जा रही थीं।

"राजेश को नहीं ले आये ? वह भी तो गाड़ी से उतरने वाला था ?" माँ ने झपटकर पूछा।

"नहीं" बटुक ने धीरे से कहा और भीतर की बनियाइन से एक भीगा-सा कागज का टुकड़ा निकालकर देते हुए कहने लगा, "उसका एक साथी लड़का टीसन पर उतरा था इसी गाड़ी से, उसी ने दिया है। राजेश की चिट्ठी है—

—तुम सोचोगी, बिना बताये ही चला गया। पर बताकर जाना कैसे होता ? मैं दोष किसे दूँ, अपने को या तुम लोगों को ? मुझे तुमने ऐसा बना ही दिया। आज भी जब दर-दर घूमकर नौकरी के बारे में बात करनी होती है, तो कितना बुरा लगता है, मैं क्या बताऊँ। कुछ समझ नहीं पाता। तुम जो बनाना चाहती थी मुझे, वह गलत था, माँ ! हम अपने से टूटकर धूल में ही मिलेंगे।

—शहरों में चिकने लोगों का राज्य है, जो शिफ़ारिश और घूस पर जीते हैं। मैं क्या कर सकूँगा, यह आज भी नहीं समझ सका हूँ। पिताजी की परेशानी जानता हूँ। कुछ करूँगा जरूर। उनसे कहना, चिंता न करें, अब उन्हें परेशानी में नहीं डालूँगा।

माँ हतबुद्धि-सी बटुक की ओर देखती रह गयी, जैसे पत्थर हो गयी हो। बनियाइन के टुकड़े हाथ से गिर गये, लेकिन आँखें बटुक की ओर लगी रहीं।

बटुक ने अपने भीगे हुए कुरते की जेब से साबुन की एक छोटी-सी बट्टी निकालकर आगे कर दी।

मिस शान्ता

"आइए ! आइए ! आप तो उस दिन के बाद दिखाई ही न पड़े ! मैं सोचती थी, घर आएँगे जरूर। पर घर तो दूर रहा, सिविल लाइन की शामें भी छोड़ दी आपने !" मिस शान्ता ने बड़ी उत्सुकता-पूर्वक दरवाज़ा खोलते हुए कहा। फिर ड्राइंग रूम के पीछे वाले कमरे का पर्दा उठाते हुए कहने लगी, "चले आइए न, यहीं बैठेंगे, जरा आराम रहेगा। हाँ, आप तो काफी पीना पसन्द करेंगे न ? उस दिन बरोरा ने बताया था कि आप चाय नहीं पीते, घूमते-फिरते भी कम हैं।"

"जी, यहीं कभी-कभी इधर-उधर निकल जाता हूँ, लेकिन... लेकिन ."

"आप संकोच कर रहे हैं ! आराम से बैठिए। मैं अभी काफ़ी लाती हूँ।" और वह उठकर अन्दर चली गयी। खासी-अच्छी औरत है। चाल-ढाल, कपड़ा-लत्ता-सब जैसे सुरुचि का परिचय देते हैं। रुआसी-रुआसी सी, स्थिर, एकाग्र आँखें—जैसे हमेशा कुछ सोचती हो। पर यह अकेली है—मिस...जवान लड़की, पचीस-छब्बीस वर्ष उम्र...।

मेरा दिमाग़ झनझना उठा। बरोरा का लम्बा-चौड़ा शरीर और भूखी, नशे में घायल आँखें और खूँख्वार स्वाभाव—मेरी आँखों में जैसे किसी ने कंकड़ मार दिया हो। लेकिन मिस शान्ता तो उसके साथ प्रायः घूमती है! और उसी ने तो चाय-घर में मेरा परिचय इनसे कराते हुए कहा था, "किसी दिन आओ भी, यार! कुछ दूसरी दुनियाँ भी देखा करो, वरना एक दिन प्राण निकल जाएँगे और सब जैसे-का-तैसा धरा रह जायगा .." और वह औरतों को, तो भेड़ ही मानता है न! हाँ, एक दिन तो कहता था कि पुरुष वही है जो..." उफ़! यह बड़ी गलत जगह होगी...बड़ी...

"क्या सोच रहे हैं?" मिस शान्ता ने काफ़ी के दो प्याले एक नन्हीं तिपाई पर रखते हुए कहा। मैं चौंक पड़ा। "जी—कुछ नहीं—आपका कमरा देख रहा था। बड़ा सुन्दर है। बड़े करीने से सजा है, इसकी सादगी मुझे बड़ी पसन्द है।" मैंने एक साथ कह डाला। फिर एकाएक आँखें उठा कर देखा, तो मिस शान्ता ने अपनी हल्की-पीली साड़ी का सुनहला किनारा सिर के आधे भाग पर टिका लिया था और उसका आँचल हवा के हल्के झोंके मे धीरे-धीरे हिल रहा था। चेहरे की उदासी जैसे कुछ और गहरी लकीरों में घनी हो गयी थी और आँखों के किनारे कुछ अजीब से भीगे-भीगे नज़र आने लगे थे। वह कहने लगी, "अरे, आप ऐसे ही बैठे रहे? यहाँ बहुत-सी पुस्तकें और पत्रिकाएँ तो थीं, कुछ देखते ही तब तक! बराबर के कमरे में मैंने एक छोटी-सी लाइब्रेरी बना रखी है, किसी दिन आकर देखिए।"

मुझे कुछ राहत-सी मिल गयी थी। मैंने संकोच का अनावश्यक पर्दा उतार फेंकने के लिए अपनी आँखों को इधर-उधर दौड़ाया। दीवार पर कई सुन्दर कलात्मक चित्र टँगे थे। मेरे बिलकुल सामने कुहासे की झीनी पीठिका में एक प्रेमी जोड़े का चित्र लगा था। मेरी निगाहें रह-रह कर उस पर टँग जाती थी और मैं कुछ कहते-कहते रुक जाता था। तब तक मिस शान्ता ने एक अजीब ममतामयी आवाज़

में कहा, "यह चित्र शायद आप पसन्द न करें । [illegible] यह । मुझे खुद संकोच होता है, [illegible] करता है ।"

फिर वे काफी बनावटी [illegible]—[illegible] की निर्लेज थाप ना । कहीं भी चढ़ाव-उतार नहीं। [illegible] आस्था उनके नजदीक न हो । मैं भी [illegible] उचित न समझ कर, चुपचाप [illegible] रही थी और हल्की-हल्की सर्दी की सिहरन, [illegible] कर सिहर उठती थी, जिससे शान्ता का [illegible] साथ-साथ हिलने लगता था । मैंने साहस करके पूछा, "[illegible] यहाँ रहती हैं ?"

"जी हाँ, बिलकुल अकेली । [illegible] भी हटा दिया है । स्कूल का चपरासी रात [illegible] ।"

"स्कूल का चपरासी ?" मैंने [illegible] से कुछ [illegible] था ।

"जी, मैं नर्सरी स्कूल में पढ़ाती हूँ ।"

"मेरी बच्ची भी तो वहीं है ।" मैं कुछ [illegible] । फिर शान्ता का दुःख कुछ और उभर आया । फिर उसने मेरी पत्नी के [illegible] में पूछा और यह जानकर उसे बड़ा दुःख हुआ कि बच्ची के जन्म के बाद ही से वह चारपाई पर से उठ नहीं सकी । शायद दिन पर दिन कमजोर होती जा रही है । फिर स्त्री के उत्सर्ग और गृहस्थी में प्रेम-भाव और आस्था की बात करते-करते वह जैसे अपने ही में खो गयी ।

"अच्छी गृहस्थी और स्त्री-पुरुष के नैतिक सम्बन्धों में ही तो जीवन का सच्चा सुख है । मैंने उसी दिन आपको देख कर अन्दाज लगा लिया था कि आप समाज के उन पुरुषों में से हैं, जो उसकी गति में सहायक होते हैं । बहुत अच्छा है । मुझे यह जान कर बेहद खुशी हुई कि आपकी बच्ची मेरे स्कूल में है ।"

"खजन नाम है उसका, अभी इसी साल तो गयी है, जरा ध्यान

रखिएगा !" मैंने जैसे जल्दी में कह डाला हो, क्योंकि मेरा ध्यान घड़ी पर चला गया था।

"खंजन ?" जैसे उसकी आँखों से एक हल्की हँसी की लहर आयी, "बड़ी प्यारी बच्ची है आपकी ! मेरे ही साथ तो है वह। मेरे यहाँ बड़ी चर्चा रहती है उसकी, क्योंकि पहले दिन जब वह मेरे पास आयी, तो नाम सुनते ही मेरे मन पर 'सूर' की लाइन दौड़ गयी, "खंजन-नयन रूप-रस-माते', और मैं प्रायः उसे देखने के बाद इसे गुनगुनाने लगती हूँ।"

मैं हैरत में रह गया, क्योंकि मैंने यहीं से बच्ची का नाम उठाया था। मैंने काफ़ी का सिप् लेते हुए देखा, तो वह जैसे खोज-भरी निगाह से मेरी ओर देख रही थी। मैंने निगाह बचाने के लिए ही घड़ी की ओर देखा, पर वह एका-एक बोल उठी, "नौ बज गये, देर हो रही है, आपको। धैर्य रखिए और किसी अच्छे डाक्टर को दिखा कर इलाज कराइए। कोई ऐसी घबराने की बात नहीं।"

"कोशिश तो बहुत कर रहा हूँ, लेकिन..."

"लेकिन नहीं, आप आशा रखिए। मेरी एक मित्र बड़ी अच्छी लेडी डाक्टर हैं। कल उन्हें भेज दूँगी, यही आठ बजे के करीब, घर ही पर रहिएगा. ."

एकाएक बातों का सिलसिला टूट गया। दरवाजे पर किसी ने दस्तक दी थी। मैं उठ खड़ा हुआ। देखा तो शान्ता के चेहरे पर एक अजीब-सा भाव दौड़ गया था। उसने कमरे में इधर-उधर निगाह दौड़ायी, जैसे कुछ ढूँढ़ रही हो। उसकी आँखों की स्थिरता में जैसे कोई लहर आ गयी हो, जो दरवाजे की दस्तक के साथ गहरी होती गयी।

मैंने कहा, "क्षमा कीजिएगा, बहुत समय ले लिया आपका।"

"ऐसी कोई बात नहीं, पर खबर जरूर देते रहिएगा।" और उसने आगे बढ़ कर दरवाजा खोल दिया। सामने बरोरा खड़ा था, उसके मुँह से अचानक निकल पड़ा, "हल्लो डार्लिंग !" और हाथ उठे ही थे कि

मै सामने आ गया। "अच्छा, तो आप हैं! खूब भाई, खूब!" और हाऽहाऽहाऽहाऽ की लड़खड़ाती टूटती आवाज मे वह हँसने लगा। फिर एकाएक जैसे होश सँभालते हुए, उसने मेरी कलाई पकड़ ली, "चलो भाई, कुछ शगल ही रहेगा, न रम सही, बियर ही लेना थोड़ी—यहाँ सब मिल जाएगा।"

मिस शान्ता जैसे घबरा गयी हो, क्योंकि उसने बरोरा का हाथ खींचते हुए कहा, "उन्हे जाने दो, घर मे बीमार हैं।"

"अरे हाँ, भाई! तुम तो पत्नी वाले हो न! जाओ! जाओ!!" कहते हुए उसने दरवाजा बन्द कर लिया। मुझे बेहद दुःख हुआ। पर अपनी इस बरकरार वापसी की बात सोच कर प्रसन्नता भी हुई। हाँ, मेरे हाथ का वह हिस्सा, जो बरोरा की मुट्ठियों में आ गया था, जैसे किसी लोहे की कड़ी से छूटा हो। मैंने उसे सहलाया और नीचे उतर ही रहा था कि कानों मे आवाज आयी, "रुको भी बरोरा!"

"हाऽहाऽ...यह नयी बात...यह नया रंग..." मेरा सिर चकराया... पाँव थरथराये। जी मे आया, लौटूँ। रुका भी। शायद मिस शान्ता के साथ यह ज्यादती करता है—डराता है। पर एकाएक बरोरा की हँसी फिर कानो मे गूँज गयी—"आज एक पूरी बोतल ली है, डार्लिंग! निकालो तुम भी कुछ आज, जी-भर कर पिओ और पिलाओ... हाऽहाऽ..."

—उफ़! यह सब मै क्या सुन रहा हूँ! सब झूठ है, गलत है, ! यह कोई आवाज नहीं! केवल भ्रम है, मेरे कानो का भ्रम, मन का भ्रम! और मै जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ा कर सड़क पर आ गया। पर जैसे वह भयानक आवाज़—वह खूँख्वार हँसी—वे रुआसी आँखे मेरे पीछे-पीछे दौड़ रही हों। मै और तेजी से चलने लगा और किसी तरह घर पहुँच कर मैंने साँस ली।

सुबह अभी बिस्तर ही मे था कि खंजन ने 'मामाऽमामाऽ' पुकारते

हुए लिहाफ़ खींच-खाँच कर अलग कर दिया। आँख खोलते ही देखा, तो शान्ता अपनी सहेली लेडी डाक्टर के साथ मेरे पास ही खड़ी है।

"रात देर मे नींद आयी, माफ़ कीजिए। कब की आयी हैं आप लोग ?"

"अभी, अभी तो !" शान्ता ने अत्यन्त आत्मीयता से कहा और मेरी ओर देखती रही। सुबह की किरणें कमरे मे फैली हुई थीं। हवा बहुत धीरे-धीरे चल रही थी। मैंने देखा, तो शान्ता की सहेली डाक्टर मेरे कमरे की दीवारों, छत और फ़र्श, सब पर बड़ी तेजी से निगाह दौड़ा रही थी। वह बड़ी प्रखर सी लगती थी। कहने लगी, "जल्दी कीजिए, मुझे खजन की माँ को देखना है, मै आज उनकी स्क्रीनिंग भी करना चाहूँगी।"

मैंने उन दोनों को मरीज तक पहुँचा कर जल्दी से हाथ-मुँह धोया और उन्हें चाय पिलाना चाहा। पर जैसे ही मै बाहर आया, शान्ता मेरे पीछे-पीछे खजन को लिए आ धमकी। कहने लगी, "नौकरानी कहाँ है, आपकी ?"

"अभी आयी नही, जाने क्या हो गया ?"

"तो मै चाय बना लूँगी, आप हाथ-मुँह धो लें।"

मै कुछ कहना ही चाहता था कि खंजन ने शान्ता का हाथ खींचते हुए कहना शुरू कर दिया, "मदर ! आओ, मै कोयला देती हूँ, तुम आग जलाओ—फिर चाय बना लेंगे, खाना बना लेंगे, जाने दो नौकरानी को।"

शान्ता खजन के इशारे पर डोलती गयी—बहुत ही नन्हे बच्चे की तरह, बिना किसी आग्रह के। हाथ मुँह धोने और कपड़े बदलने मे मुझे कुछ देर लग गयी। फिर एकाएक रात वाली घटनाओं का क्रम दिमाग के सामने आया। मन में चिढ़ हुई, घृणा भी। पर नहीं-नही यह बिलकुल दूसरी शान्ता है, वह कोई और रही होगी। मै सोचता जा रहा था कि देखा, चूल्हे पर केतली चढ़ी हुई है और रसोई का कमरा साफ़ सुथरा हो

गया है। बाहर खंजन बड़े प्रेम से मदर की गोद में बैठ कर अपने हाथ-पाँव धुला रही है। बगल में कंघी, शीशा, पाउडर और बाल बाँधने के रिबन एक तिपाई पर पड़े हैं। मुझे अचम्भा हो रहा था। शान्ता के चेहरे पर कहीं भी उत्साह के भाव न थे, कहीं भी नवीनता का आग्रह न था, जैसे वह रोज़ ही यह काम करती हो। वैसे ही आँखें, जैसे किसी अथाह समुद्र में तिरतीं-तिरतीं—वैसा ही मनोहर मातृत्व रूप, जिसकी अतल-सी गहराई।

मैंने पास जा कर कहा, "यह क्या करने लगीं आप?"

पर शान्ता ने जैसे सुना ही न हो। फिर कुछ देर तक रुक कर कहने लगीं, "थोड़ा ओडिकलोन और क्यूटीक्यूरा भी रखना चाहिए। बच्चे धूल-मिट्टी में खेलते हैं न!" फिर एकाएक जैसे सचेत होते हुए बोलीं, "देखिए, डाक्टर ने कमरा खोला या नहीं?" मैंने देखा, तो कमरा खुल गया था। शान्ता ने मुझे वहीं चलने को कहा और थोड़ी देर में चाय ले कर कमरे में आयी। चाय पीने के बाद, डाक्टर ने मरीज़ की हालत बतायी और मुझसे एकान्त में बुला कर कहा, "एक्सरे आज करूँगी, पर बच्ची को जरा सँभालिएगा।" शान्ता इसे सुनते ही जैसे चौंक पड़ी हो। उसने खंजन को अपने पास खींच, उसके सिर को अपने दोनों हाथों से दबा लिया। उसका चेहरा उदास हो गया। आँखें जैसे कुछ कहते हुए भी बन्द हो जाना चाहती हों। डाक्टर ने नमस्ते करके छुट्टी ली, पर शान्ता जैसे रुकना चाहती हो। उसने खंजन से जाने क्या-क्या धीरे-धीरे कहा। फिर मुझसे जैसे, साहस करके कहने लगी, "दोपहर को उसका खाना मत भेजा कीजिए।" डाक्टर ने शान्ता को आवाज़ लगायी। वह मोटर स्टार्ट कर चुकी थी और शान्ता किसी तरह खञ्जन से छुट्टी ले कर जल्दी-जल्दी मोटर तक बढ़ गयी, पर फिर लौट पड़ी। "इसकी टॉफी का पैकेट तो मेरे ही साथ चला जा रहा था, दूध गर्म करके, छान कर दीजिएगा, एक्सरे के लिए जरूर चले जाइएगा।" शान्ता ने जल्दी-जल्दी कहा और वह लौट गयी।

दूसरे दिन शाम को जब मैं एक्सरे की रिपोर्ट लेने सिविल लाइन गया, तो पता चला कि मिस शान्ता अभी आयी थीं और डाक्टर को लेकर किसी टी० बी० स्पेशलिस्ट के यहाँ कुछ मशविरे के लिए गयी हैं। सम्भवतः घंटे-दो-घंटे में लौटेंगी। मेरा मन बड़ा उदास-सा था क्योंकि पत्नी की हालत दिन पर दिन खराब होती जा रही थी। मैं वहीं घूमने लगा। अभी शाम हुई थी, सड़कों पर भीड़ की गरमाहट नहीं हुई थी, इसलिए किसी मित्र के भी मिलने की आशा नहीं थी। मैं अनमना-सा टहल ही रहा था कि बरोरा आता दिखाई दिया—बड़ा खोया-खोया-सा, उदास और हतप्रभ। मैंने रास्ता बचा जाना चाहा, पर उसने अपनी मोटर-बाइक खड़ी करते हुए मुझे बुलाया। मुझे फिर रात की सारी बातों का स्मरण हो आया और मैं लौटना ही चाहता था कि वह मेरे पास तक चला आया और मेरे कन्धे पर दोनों हाथ रखकर, कहने लगा, "लगता है, तुम बुरा मान गये, यार! अभी कच्चे हो इस दुनियाँ के लिए, वरना, उस दिन इतनी जल्दी भागने की जरूरत थी? यह तो एक संकोच-भर है, जो हटाने से हट जाता है, बढ़ाने से बढ़ जाता है, फिर शान्ता के लिए..." वह जैसे एक गहरी मुस्कराहट में डूब गया, "खैर, देखा जाएगा..." और वह मुझे पकड़ कर काफ़े में ले गया।

शान्ता के बारे में ऐसी बात सुन कर मुझे दुःख हो रहा था, पर कुछ ऐसा लग रहा था कि मैं किसी अपरिचित मानव-समाज में एक शिशु की हैसियत से घुसा हूँ। सोचा, इससे कुछ जान ही लूँ, तो क्या हर्ज है? इसलिए चुप-पाच उसके साथ बैठा रहा। उसने मेरे लिए काफ़ी मँगायी और अपने लिए ह्विस्की। थोड़ी देर पत्नी की बात पूछने के बाद वह फिर शान्ता पर उतर आया। थोड़ा नशा भी शुरू था—उसका दुःख और गहन हो गया और आँखों की रोशनी तेज पड़ती गयी—"तुमने सब चौपट कर दिया, यार! वर्षों का बना-बनाया खेल जैसे बच्चों के खिलौने-सा बिगड़ गया। काश, उस दिन तुम्हें मैंने रोक लिया होता!"

वह माथे पर हाथ टेक कर बैठ गया, "अब तो कोठों की ही शरण लेनी पड़ेगी।"

मुझे आश्चर्य हो रहा था, पर मैंने बात बढ़ाना ही उचित समझा, "कुछ समझ में नहीं आता, बरोरा! तुम्हारी बातें भी क्या अजीब होती हैं। मेरे वहाँ रहने से क्या होता?"

"कुछ नहीं, पर यह न होता, जो हो गया। तुम्हारे सामने भी तो सब-कुछ हो सकता था। शान्ता के लिए यह कोई नयी बात तो नहीं।

"नयी बात? कुछ समझ में नहीं आता!" मैंने उतावली से कहा।

"यही यार! कि उसे अनेकों से सम्पर्क रखने में कोई संकोच नहीं। वह आदी है। उसके जीवन का पहला विश्वास ही यही था।" उसका नशा कुछ और गर्म हो चला था, इसलिए उसे बोलने में अब प्रयास नहीं करना पड़ रहा था, "अपने अठारहवें वर्ष में यह एक ऐसे लड़के के चक्कर में फँस गयी, जिसके लिए यह और उसका एक मित्र एक ही से थे।"

मुझे जैसे किसी ने गरम सलाख से दाग दिया हो, "बस करो बरोरा, बहुत हो गया, कल तक तुम्हीं तो शान्ता के गुण गाया करते थे, आज ऐसा क्या हो गया? यह सब झूठ है—निरा झूठ। तुम महज़ मेरा मन खट्टा करने के लिए यह सब कह रहे हो।" मैंने एक आवेश में कह डाला। पर बरोरा नाराज नहीं हुआ, बल्कि एक अजीब-सी दुःखपूर्ण हँसी हँस कर कहने लगा—

"सो तो अब भी कहता हूँ, भाई! कुछ अजीब है ही यह लड़की। घर छोड़ कर उनके साथ भाग आयी थी। मै तो स्वयं देख चुका हूँ न इन्हीं आँखों से। इसलिए कहता हूँ। हर तरह उनकी सेवा करती थी। उनके दोस्तों को इण्टरटेन करती थी। उसी सिलसिले में तो मुझसे इसका परिचय हुआ और जब मुझे वह सब अच्छा नहीं लगा, तो मैंने इसे बताया कि स्त्री की आस्था एक ही पुरुष में होनी चाहिए। बेचारी पागल हो गयी इस एक बात पर। रात-दिन इसी एक आस्था में जीती-

मरती थी। उसने सब-कुछ छोड़ दिया। उनका ख़याल भी इसे पागल बना देता है—डरावनी, ख़ूँख्वार, जैसे अभी-अभी प्राण त्याग देगी। पर...उफ !" बरोरा जैसे झुँझला उठा हो। उसकी बरौनियो पर बल पड़ गये और होंठ एक-दूसरे से रुट गये।

मैंने उसे देखा, तो भय हुआ। फिर ध्यान से देखा, तो जैसे घृणा की गहरी वेदना से मेरा मन तिलमिला उठा। जी में आया, शान्ता को अभी ढूँढ़ निकालूँ और पूछूँ, "तुम्हारे यही सब करम हैं?" मै उठ खड़ा हुआ। बरोरा ने कहा, "जा रहे हो—जाओ! पर सुनो, एक बात याद रखना, कभी बरोरा और शान्ता की मित्रता की बात भी मत सोचना और शान्ता से पूछना तो तुम्हारे लिए जहर साबित हो जाएगा। वह अपने विश्वास की राह में पहाड़ को भी समतल मैदान मानती है। अब बरोरा अपने सारे पौरुष के बावजूद भी उसके लिए एक मच्छर से ज्यादा नहीं। और यह नर्सरी-स्कूल की नौकरी? मैंने स्वयं ही काँटा बोया है अपनी राह मे।" और वह माथे पर हाथ रख कर बैठ गया।

मै वहाँ से उठा, तो सीधे डाक्टर के पास गया। वहाँ शान्ता मिली। बड़ी देर से मेरा इन्तजार कर रही थी। कहने लगी, "कहाँ रह गये आप?" और उठ खड़ी हुई। फिर मुझे रिपोर्ट देते हुए, पत्नी को शीघ्र भुवाली भेज देने की बात पर डाक्टर की राय बताने लगी—"केस बहुत बिगड़ गया है, भुवाली के सिवाय कोई आशा नहीं। बस महीने-दो-महीने की बात बच रही है। हार्ट तो कभी भी फेल कर सकता है।"

हम दोनों धीरे-धीरे सड़क पर चले जा रहे थे, तब तक बरोरा फिर सामने पड़ गया। मिस शान्ता ने रास्ता नही बचाया, रुकी भी नही, हिचकी भी नही और मुझसे बाते करती चलती रही। फिर मुझे रुकने को कह कर वह एक दूकान में घुस गयी और कई बिस्कुट केडिब्बे, दवा की शीशियाँ तथा एक छोटी मच्छरदानी ले कर निकली और मुझे देते हुए कहने लगी, "खंजन ने बताया, वह वैसे ही सोती है, आज से उसका

ठीक से इन्तजाम कर दीजिएगा। मच्छर लगते हैं—मलेरिया का बड़ा डर है। थोड़ा सँभालिएगा।"

मैं दवा सँभाल ही रहा था कि उसने रिक्शा बुला कर अपने जाने की सूचना दे दी। मैं डर गया। कौन जाने, बरोरा नशे में उधर जाए? इसलिए मैंने उसे रोक कर कहा, "मैं भी साथ चलूँ, तो कोई हर्ज है?"

"नहीं, नहीं, कोई ऐसी बात तो नहीं, पर आप सीधे घर जाएँ, तो अच्छा है। मैं चली जाऊँगी।"

"रात तो ज्यादा......"मेरे मुँह से निकला ही था कि उसने बात छीन ली, कोई ऐसा डर नहीं, आप निश्चिन्त रहें।"

मैं लौट कर घर पहुँचा, तो बरोरा की वहशी आँखें मुझे बार-बार घूरती नजर आने लगीं। रात को देर तक नींद नहीं आयी और काफ़े वाली बातें दिमाग़ में घूमती रहीं।

इसके बाद प्रायः शान्ता मिलती रही, लेकिन बातचीत में केवल हाल-चाल और तीमारदारी की शिक्षाएँ ही देती गयी। उसका मुख्य काम खंजन से ही रहने लगा। स्कूल की बस से ही अब वह नर्सरी जाती और लौटते हुए मेरे घर पर ही रुक जाती। केवल इसलिए कि खंजन सड़क से घर तक अकेली कैसे जाएगी और घर पहुँचने पर उसे नाश्ता कौन देगा, कपड़े कौन बदलेगा? प्रायः हफ्तों मुझसे उसकी मुलाकात भी नहीं होती, न वह इच्छा ही प्रकट करती, न शिकायत ही करती।

खंजन भी जैसे हम लोगों की परवाह न करती। उसकी नन्हीं-सी दुनियाँ में रोज़बरोज एक नया खिलौना, नया आकर्षण देखा जाता। कपड़ा-लत्ता, खाना-पीना, सब जैसे आसमान से आ कर उसके पास गिर जाता हो। मैंने एकआध दिन खंजन से बातें करनी चाहीं, तो बस "मदर ने यह कहा है, मदर ने वह कहा है," इसके अलावा और कुछ नहीं।

मिस शान्ता से मैंने एक-आध बार कहा, "यह सब आप क्या कर रही हैं? नाहक कष्ट उठाती हैं।" तो वह कुछ नहीं बोली। हाँ, दुःखी बहुत हो गयी। मुझे संकोच हुआ, शायद मेरी इस बात से मेरे पिता

होने का एहसास तो उसे छू नहीं गया; क्योंकि उसने जब भी मुझसे बातें की, खंजन को उससे अलग रखा, जैसे वह कोई ऐसा स्थल हो, जिसे छूते ही तेज दर्द होने की सम्भावना है।

एक दिन सुबह मैं सो कर उठा ही था कि बाहर बरामदे में शान्ता और खंजन की फ़ुसफ़ुसाहट सुन पड़ी। खंजन कह रही थी, "मदर, तुम तो बड़ी मदर हो कर मसूरी जा रही हो, मुझे भी ले चलोगी ?"

फिर शान्ता ने जैसे बड़े रूठने के स्वर में कहा, "तेरा बाप ले भी जाने देगा, बेटी ? मैं यहीं रहूँगी। कोई नौकरी के लिए अपनी बेटी को छोड़ता है ? चल; जल्दी कर, दूध ठंडा हो रहा होगा।"

मैं अचम्भे में पड़ गया, कैसी पागल औरत है ! मुझसे तो बता देती। मैं बिस्तर से उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे चौके की ओर गया, तो शान्ता दूध का गिलास और अण्डे ले कर पत्नी को देने जा रही थी। मैंने रोका, तो खड़ी हो गयी। देखा तो जैसे वह बड़ी उदास-सी लग रही थी। कुछ ही दिनों में कहाँ-की-कहाँ पहुँच गयी है यह, जैसे कई बच्चों की माँ हो।

"आप कहीं बाहर जा रही हैं ?" मैंने पूछा।

"नहीं तो किसने बता दिया आपसे ?" और कमरे की ओर बढ गयी। मैं उसे देखता-देखता कमरे में चला गया। पत्नी को आज बुखार तेज था। शान्ता ने टेम्परेचर लिया और मुझे फौरन डाक्टर के पास जा, उसे ले आने को कह कर, खंजन को ले कर वह स्कूल चली गयी। मैं दौड़ा, डाक्टर के पास चला गया, पर अब डाक्टर बेकार था। उसी दिन दोपहर के एक बजे के लगभग उसकी साँस बन्द हो गयी। मेरे लिए जैसे चारों ओर अन्धकार छा गया। कई दिनों तक जैसे मुझे पता ही नहीं चला कि मैं कहाँ हूँ। हाँ, इतना जरूर था कि शान्ता ने मेरे घर तार दे कर माँ, बड़े भाई और भाभी को बुला दिया था। शान्ता रोज उसी तरह आती थी, पर घर में घुसते जैसे उसे संकोच होता हो। दरवाज़े से ही खंजन को आवाज देती और खंजन जैसे कुछ दुःखी-सी

दौड़ कर उससे चिपक जाती और भाई की अच्चियों की एक बोझ शिका-यत शान्ता से कह डालती।

एक दिन भाभी ने खंजन की चर्चा करते हुए मुझसे कहा, "अब तुम्हें भी घर ही चल कर रहना होगा। यह खंजन भी बड़ी बिगड़ती जा रही है। घर के प्राणियों से जैसे उसकी साँस फूलती है। रात-दिन उसी मास्टरनी की रट लगाए रहती है। तुमने तो इसे बिगाड़ ही लिया है!"

मैं उन्हें क्या समझाता, पर मेरा तो यहाँ रहना किसी भी तरह सम्भव नहीं था। खंजन की पढ़ाई की बात जरूर थी, सो वहाँ भी तो हो सकती है। मैं सोचने लगा कि शान्ता से बता तो देना ही चाहिए। मैं सोच ही रहा था कि बस की आवाज हुई और शान्ता खंजन की अँगुलियाँ पकड़े दरवाज़े पर आ कर खड़ी हुई। मैं उठ कर गया, तो कहने लगी, "जरा सुनि-एगा तो।" मैं बाहर निकल गया। जैसे वह कुछ भूल गयी हो और उसका ख़याल कर रही हो। कहने लगी, "खंजन बहुत डरती है, न जाने क्या हो गया है, बड़ी उदास रहती है। बच्चों की बात-बात पर रोती है। कोई कुछ कहता तो नहीं इसे? और हाँ, कल रात तो मुझे बड़ा डर लगा। मैंने रात स्वप्न देखा कि यह बहुत बीमार है और इसे कोई उठाए जा रहा है। मैं चौंक कर उठ बैठी और चपरासी को लेकर यहाँ तक आयी, पर आप सब लोग सो रहे थे, किसको जगाती? फिर लौट गयी।" शान्ता की बरौनियाँ भय के आँसू से भीग गयी थीं।

मेरी समझ में नहीं आया कि मैं क्या कहूँ पर उससे कहना तो था ही। आखिर कल ही नौ बजे तो जाना है मुझे यहाँ से। 'हम लोग तो कल जा रहे हैं।" मैंने धीरे से कहा।

"खंजन भी?" शान्ता पर जैसे बिजली गिर गयी। फिर जैसे उसे किसी ग़लती का अनुमान हुआ हो, उसने अपने को सँभालते हुए कहा, "किस गाड़ी से?"

"नौ बजे सुबह।" मैंने जवाब दिया, "पर खबर देतीं रहिएगा।"

"जरूर, ज़रूर!" उसने बड़ी थकी आवाज़ में उत्तर दिया। मैंने

देखा, तो पहली शाम वाली मुलाकात की रुआसी आँखें, स्थिर, निर्विकार चेहरा और मोहहीन तन्द्रा के सारे लक्षण जैसे साकार हो उठे हैं—वही उदासी, वही स्थितप्रज्ञता, जैसे मेरी पहचान जाग उठी। मैं कुछ कहता, पर उसने मौका न दिया। घर की ओर लौटती हुई वह खंजन के फ्राक, स्कर्ट और चड्डियो का कलर-कम्बिनेशन समझाती रही, "सुबह गर्म पानी से नहला कर कपड़े बदला दीजिएगा और फिर नाश्ते मे बिस्कुट और मक्खन देना मत भूलिएगा! उसके खिलौने टूटने न पाएँ, खास कर वह स्प्रिगमोटर तो उसकी जान है। देखिए, लड़कों से झगड़ने न पाए, वर्ना आदत बिगड़ जाएगी और किसी ने मार-पीट दिया, तो अलग परेशानी होगी। हाँ, उसकी आखे कुछ मैली हो रही हैं। मैंने लोशन का डिब्बा रख दिया है, उसे अपने ही हाथ से डालिएगा!..." फिर वह जैसे कुछ रुकी। मैंने उसकी ओर देखा, तो मुझे कुछ दिखाई नही पड़ा। पर फिर सुना, कह रही थी, "और हाँ, शायद वह मुझे याद करे, पूछे, रोए, तो देखिए, रोने न दीजिएगा; वरना आँखो पर बुरा असर पड़ेगा, कही और कुछ न हो जाए, किसी भी तरह बहलाइएगा, किसी..."

फिर वह दीख नही पडी, जैसे आँसुओ के पर्दे मे छिप गयी हो। मैने इधर-उधर देखा, कही कुछ नही। वह चली गयी थी, पर मै सोचने लगा, "कुछ मेरी भी तो सुन लेती, शान्ता!"

महुए का पेड़

दुखना को गाँव में कोई नहीं छेड़ता। वैसे तो शायद ही कोई ऐसा असहाय बूढ़ा होगा, जिसके लिए गाँव के बच्चों के पास चिढ़ाने का मसाला न हो। बूढ़े चौथी को करमहीन और नाथू को करैला कह देना ही गालियों की बौछार का कारण बन जाता है। फिर क्या, गाँव के बड़े-सयाने भी इसमें मज़ा लेने लगते हैं और एक वेपैसे का तमाशा गाँव की ज़िन्दगी में थोड़ी हँसी का वातावरण पैदा कर देता है। गाँगी को शोभा पंडित का बुलावा देना, एक असाधारण खेल को बुलावा देना है। गालियों की बौछार से लेकर, ईंट-पत्थर और बटोर-पंचाइत की नौबत तो आ ही जाती है। पर दुखना के साथ यह बात नहीं है। बच्चे, 'दुखना आजी'. औरतें, 'मइया' और सयाने, 'दुखना चाची' कहकर ही उसे पुकारते हैं।

दुखना के पास एक लिपी-पुती, साफ-सुथरी झोपड़ी, दो-एक बरतन, मिट्टी की गगरी और झोपड़ी के सामने, हहरता हुआ एक महुए का पेड़ है। यही उसकी कुल सम्पत्ति है। महुए के पेड़ से उसका

बड़ा निकट सम्बन्ध है। उसे दुखना ने अपने हाथ से लगाया है, सींचा है और देख-रेख कर इतना बड़ा किया है। अब उसकी उम्र पचास वर्ष की हो रही है। दुखना कभी उसे अपना बच्चा समझती थी पर अब उसके विशाल पौरुष की छाया के नीचे, अपने को रक्षित समझती है। क्या मजाल है कि कोई एक टहनी भी उसमें से तोड़ ले। चाहे वह जमींदार का ऊँट हो, चाहे मौला का हाथी, दुखना के जीते जी, उस महुए की छाया दोनों के लिए वर्जित है।

इस महुए के फूल क्या होते हैं जैसे मिश्री के दाने। गाँव के लोग उसे मिसिरिहवा कहते हैं। नन्हे-नन्हे मधूक के उजले फूलों में वैसे ही मोती की आभा होती है, पर इसकी सफाई और छोटाई में तो जैसे मोती भी मात हो। दुखना इस विशाल पेड़ की सारी छाया को गोबर से लीप डालती है और रात-दिन, बाँस का एक छोटा-सा डंडा लेकर इसकी रखवाली करती है।—कहीं कोई जानवर आकर कुचल तो नहीं देगा।—कहीं बाग में महुआ बीनने जानेवाले चुलबुले बच्चे, अपनी मउनियाँ लेकर, इसी के नीचे तो नहीं झुक जाएँगे। दुखना को इसकी चिन्ता सदा बनी रहती।

रात को जब उजली, धुली चाँदनी की चादर, धरती पर फैल जाती और उस विशाल महुए की नंगी-नंगी डालें और उनमें से निकली हुई नन्हीं-नन्हीं, बिना पत्ते की टहनियों के झोपों से एक-एक फूल टपकता, तो दुखना को लगता, जैसे रेशम की पतली धारियों से स्वर्ग के दूत, उसके आगे मोतियों की वर्षा कर रहे हों। वह एक टक, बहुत ही प्यासी आँखों से देखती-देखती, देर तक अपनी मड़इया के आगे बैठी रहती।

कई साल से दुखना के मन में तीर्थ-यात्रा की बड़ी लालसा है। अगल-बगल की पड़ोसिनें कई बार गंगा-स्नान कर आयीं। मलमास नहा डाला, गरदन में पैदल चलकर काशी का पुण्य लूट आयी पर दुखना कहीं न जा सकी। लेकिन पिछले महीने, जब से हरखू की माँ

प्रयागराज से खोपड़ी के बाल साफ़ करा और गले में तुलसी की मनियाँ पहनकर लौटी है, तबसे दुखना के पास उसकी आव-भगत बढ़ गयी है। वह हर रोज एक न एक बात उठा ही देती है।

"मइया! तिरवेनी का दरसन करके ही जैसे पाप भाग जाता है। वहाँ किसिम-किसिम के लोग, दूर-दूर से पैदल चलकर आते हैं। सच मानो मइया! कितनों के तो पाँव तक कट जाते हैं। लेकिन ईश्वर की महिमा है कि सगम मे गोता लगाते ही अतमा पवित्तर हो जाती है। नहीं तो मेरे पाँव में इतना जोर कहाँ? यह तो ईश्वर की ही माया समझो, जो बुढ़ाई समो में दरसन हो गये।"

"यह सब बड़े भाग से होता है हरखू की माई! तुम्हें भगवान ने लड़िका-बच्चा दिये हैं। घर-दुवार देखने वाले हैं। तुम आ-जा सकती हो। मैं तो इस मड़इया को छोड़कर चली जाऊँ तो इस महुए में एक डाल भी न रह जाए। दुखना की आँखों में संतोष की एक गहराई उभर आयी। फिर उसने एकाएक हरखू की माँ की ओर देखा तो वह कहती जा रही थी।

"कब तक इसे थाम कर बैठी रहोगी मैया! दो दिन की जिन्दगी में तीरथ-बरत न कर लोगी तो आगे क्या होगा। दुनियाँ में किसी के पास पेड़-पालो नहीं हैं क्या? कोई उन्हे रात-दिन अगोर कर बैठा थोड़े ही रहता है!"

दुखना तिलमिला उठी। दोनों हाथों को जमीन पर टेकते हुए, दीवार से सटकर, बैठकर कहने लगी, "हरखू की माँ! यह सब तो ठीक कहती हो लेकिन तुम जानती नहीं, इस दुनियाँ में कमजोर का ठिकाना नहीं। जमीन ठाकुर की है, पेड मेरा है। अब उसकी बखरी बन रही है, लकड़ी की कमी है, कहता है, 'इसे दे दो, तो बड़ा काम हो जाए।"

"तो दे क्यों नहीं देती", हरखू की माँ ने बात बीच ही में छीन ली। "उससे रुपये लेकर तीरथ पर निकल जाओ! आखिर तुम्हारे मरने के बाद, पेड़ उसी का तो हो जाएगा।"

दुखना को जैसे किसी बिच्छू ने डंक मार दिया हो। अपने दोनो हाथों से उसने माथा थाम लिया। पिछली घटनाओं का क्रम, जैसे उसकी आँखों मे नाच उठा।

कोई पचीस बरस बीते होंगे, जब दुखना का पति जीवित था। दस बीघे का काश्तकार था वह। जेठ की तड़पती धूप मे, ईख की सिंचाई हो रही थी। बड़ी मुश्किल से कुएँ पर बारी आयी थी।

वह रात-दिन उसी कुएँ पर रह जाता, दुखना खाना-पानी लेकर वहीं जाती और देर तक बैठी रहती। पर वह कहता, "तू क्या यहाँ सती हो रही है। मैं तो अभी जीता ही हूँ, घर चल! आज सिंचाई खतम करके लौटता हूँ।"

दुखना घर पर पहुँची भी न होगी, कि वह पुरवट हाँकते-हाँकते बेहोश हो गया। लोग उठा-पुठाकर घर लाये, दुखना देखते ही चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगी। उसके रूखे, खुरदरे हाथो मे अपना मुँह रगड़ती रही पर वह होश मे नहीं आया। बड़ा, तेज बुखार, जैसे सारा शरीर जल रहा हो। दुखना ने बड़ी दौड-धूप की। लोगों के सामने हाथ फैलाया, गिडगिडायी पर कोई काम न आया। अन्त मे वह हमेशा के लिए चल बसा। और दूसरे दिन ही ठाकुर ने बेदखली का हुकुमनामा भेज दिया। दुखना ने एकाएक होश सँभाला। आँखो पर से हाथ हटाया, तो हरखू की माँ अभी भी बैठी थीं। उसने पूछा—"क्या सोच रही हो मइया! अब माया-मोह छोड़ो, इसी बर्मी में चली जाओ काशी। मलमास पड़ रहा है।"

"माया-मोह काहे का हरखू की माँ, तुम जानती नहीं। यह जो सामने का खेत है न! यह मेरा ही था। बाग मे पचासो पेड थे। पर सब इस ठाकुर ने ले लिया। यह तो चाहता है कि, मै जल्दी से मर जाऊँ, तो वह; इतनी जमीन और यह पेड और पाले।"

"तो कहीं दूसरी जगह से कुछ पैसे का इन्तजाम कर लो, चलो, मै भी चलूँगी। दोनो जने नहा आवें।" हरखू की माँ कह ही रही थी,

तब तक दुखना चिल्ला उठी, "दाढ़ीजार की आँख फूट गयी है क्या, कि फूले महुए में ऊँट लगा दिया है।" हरखू की माँ भी उठ खड़ी हुई। देखा तो ठाकुर का उटहारा, अपनी लग्गी से जल्दी-जल्दी महुए की पत्तियाँ छिनगाता और हँसता जा रहा है। दुखना गालियाँ देती-देती, अपने बाँस का डंडा, उठाकर, ऊँट की तरफ दौड़ पड़ी और जल्दी-जल्दी उस पर डंडे चलाने लगी पर ऊँट टस-से-मस नहीं हुआ और डालियाँ उचार-उचार कर, खाता रहा। उटहारा हँसकर कहता जा रहा था। "दुखना! तुम्हारे महुए की पत्तियाँ बड़ी मीठी होती हैं।" और जल्दी-जल्दी लग्गी से डाले काटकर गिराता जा रहा था। जब दुखना का बुढ़ापे से शिथिल शरीर, हाथ चलाते-चलाते थक गया तो उसने एक डंडा उटहारे के ऊपर चला दिया। वह भी गालियाँ बकने लगा। और बूढ़ी को झिटक दिया। दुखना उसी पेड़ के नीचे गिर पड़ी और कलप-कलप कर रोने लगी। हरखू की माँ ने उसे किसी-किसी तरह उठाया। गाँव के बहुत से लोग इकट्ठे हो गये।

"इस बूढ़ी के सिर पर तो पाप सवार रहता है। इस महुए को छाती पर लादकर, सरग जाएगी क्या?"

किसी ने कहा "महुए की पत्ती इसके लिए सोना है, सोना। अरे भाई! ऊँट ने मुँह डाल ही दिया, तो क्या हुआ। उस पर डंडा चलाने का क्या काम था?"

हरखू की माँ ने बीच-बचाव किया। "बूढ़ी है, जब उसे नहीं अच्छा लगता, तो जान-बूझ कर लोग क्यों बेचारी को परेशान करते हैं। दो दिन की मेहमान है, न जाने कब चल बसे। इस तरह उस पर हाथ उठाना कोई अच्छा काम थोड़े ही है।"

सब लोगों को बात अच्छी लगी, पर ठाकुर का लड़का भी वहीं खड़ा था, कहने लगा, "बूढ़ी है तो क्या हुआ, गाँव में किसी को रहने नहीं देगी? तू बड़ी भग्तिन बनी है मूँड़ मुडाके।"

कुछ लोगों ने उसे डाँटा और भीड़ छट गयी।

दुखना उस दिन, रात भर रोती रही। उसकी नन्हीं सी मड़इया में दीया-बत्ती नहीं जली। वह सोचती—एक दिन वह ऐसे ही मर जाएगी और उसका घर-दुवार सब ढहा दिया जाएगा और उसका महुआ काट कर, गिरा दिया जाएगा। फिर कौन इसकी एक-एक पत्ती की देख-रेख करेगा? क्या वह इसे बचाने के लिए, हमेशा जीवित रहेगी और लोगों की गालियाँ सहती रहेगी? वह अपने नन्हें से खटोले पर से उठ खड़ी हुई और दीवार के सहारे धीरे-धीरे डोलती-डोलती बाहर आयी तो अभी सवेरा नहीं हुआ था, पर घोसियों के मुर्गे बोलने लगे थे। कहीं-कहीं बैलों की घंटियाँ टुन-टुन करने लगी थीं। उसने बड़ी प्यासी आँखों से उस महुए को देखा, जिसकी पीली पत्तियाँ हवा के झोकों के साथ खड़खड़ करके झर रही थीं। वह डोलती-डोलती उस जगह पर पहुँची जहाँ ऊँटहारे ने उसकी डालियाँ काटकर गिरायी थीं। उसने एक एक को बटोरा। और अपनी झोपड़ी के सामने रखकर, उन्हें देखने लगी। फिर एकाएक उसके दिमाग़ में आया—आख़िर कब तक वह जीएगी, इस सब के लिए? और उसने उलट कर उस पेड़ की तरफ देखा—हवा का एक झोंका आया, पत्तियाँ खड़ाखड़ा कर झर पड़ीं और पेड़ नीचे से ऊपर तक हहर उठा। वह एक टक उसके विशाल तने को देखने लगी।

इस साल उसमें खूब फल आएँगे। वह सब बेच देगी और उसी रुपये को लेकर तीर्थ पर चली जाएगी। लेकिन तब तक तो मलमास बीत जाएगा। उसे ख़याल आया, इसी बीच वह अपने रिश्तेदार के यहाँ से रुपये लेकर नहा आवे। आने पर महुए को बेचकर, उसे रुपये दे देगी। उसने झोपड़ी में घुसकर, अपनी धोती उठाया और चल पड़ी।

चैत का महीना था। सुबह की पागल हवा से उसके मन में लालसा ज़ोर पकड़ने लगी। कहीं-कहीं लोगों के खाँसने की आवाज सुनाई पड़ने लगी थी। दुखना के पावों में कुछ स्फूर्ति आ गयी। वह जल्दी-जल्दी आगे बढ़ती गयी और भोरहरिया की बेला में ही लोगों की आँख बचा-कर, वह गाँव के पार चली गयी।

जब धूप बहुत चढ आयी, तो लोगों ने दुखना की खोज की। पूछ-पाछ हुई, पर कहीं पता नहीं चला। हरखू की माँ को कुछ अन्दाज़ था। उसने मन में सोचा, शायद बूढ़ी ऊब कर, तीर्थ के ही लिए निकल गयी है, पर गाँव के लोग बड़े घबराए थे। कोई कहता था, "किसी कुएँ मे गिर पडी होगी।" तो कोई कहता, "कहीं चली गयी।" पर जब तीन दिन बीत गये, तो हरखू की माँ की बात तब मान ली गयी और ठाकुर के जी-मे-जी आया। उन्होंने सम्पत्ति पर जल्दी ही कब्ज़ा कर लेना उचित समझा, क्योंकि देर होना, इसमें ठीक नहीं और लुहारों के टाँगे महुए की जड़ पर चलने लगे। पूरे दिन लग गये, पर तना कट न सका आखिर रोशनी जलाकर, रातभर काम होता रहा और भोर में पेड़ भीषण करकराहट की आवाज के साथ दुखना की झोपडी पर जा गिरा। दीवारें और फूस की छत भी साथ ही ध्वस्त हो गयीं। दुखना की मिट्टी की गगरी और छोटी-सी चारपाई भी टूटकर चूर हो गयी।

गाँव के बच्चों ने डालो पर झूलना शुरू कर दिया और औरतो ने टहनियो को ईंधन के लिए तोड़ना। बकरी और ऊँटो की भी बन आयी। एक बड़ा-सा जमघट, जिसमे जानवर भी थे और आदमी भी, उसके इर्द-गिर्द इकट्ठा हो गया। कोई दुखी नहीं था, हरखू की माई के अलावा।

उसी दिन दोपहर को अपनी लकड़ी के सहारे, लुढ़कती, आती दुखना को देखकर लोगो को भूत का-सा भय हुआ। कोई सामने न पड़ा। ठाकुर घर मे घुसे तो बाहर नहीं आये। लड़के घर के दरवाजों से झाँक-कर, डरे-डरे सिमटे रहे। हरखू की माई जमींदार को कोसती-कोसती पहुँची पर दुखना ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। वह महुए के तने के पास चली गयी, खून-सी लाल तने की लकड़ी को हाथ से छुआ, झोपड़ी की दीवारों को देखा, और घूमकर हरखू की माई से कहने लगी —

"हरखू की माँ, चलती हो तीरथ को? मैं तो चली।"

मन के मोड़

रात को रामशरण देर से घर लौटा। द्रौपदी चौके मे मन मारे बैठी थी। पास दीवट पर जलते चिराग की लौ गुल से भारी हो रही थी और चूल्हे मे लकड़ी सुलग-सुलग-कर बुझने के करीब पहुँच चुकी थी। कुछ जूठे बरतन, पिसान की थाल और दाल-भात की बटलोइयाँ शरारती बच्चो के खिलौनो की तरह, इधर-उधर पड़ी हुई थी।

रामशरण को कुछ आशका हुई, इधर-उधर देखा। कही कोई आहट नही। जीतू के कमरे में भी रोशनी न थी और द्रौपदी—वह तो ऐसे कभी न बैठती थी, मेरे आते ही खाने-पीने के इन्तजाम में जुट जाती थी। उसने हाथ की लाठी दीवार से टिकायी, कन्धे की चादर डारे पर टाँगी और दीवार के पास खड़ी चारपाई को बिछाकर बैठ गया। फिर भी द्रौपदी कुछ नहीं बोली। उसने समझा, जरूर कुछ गड़बडी हो गयी है। वह उठा और पूरबवाले घर मे गया। अँधेरे मे उसने हाथ से चारपाई टटोली, जीतू वहाँ नही था। उसने वहीं से आवाज देकर कुछ विस्मय-भरे स्वर मे पूछा, "जीतू अभी कबड्डी खेलकर नहीं

लौटा क्या ? खूब बना रखा है लाडले को तू ने ! पढ़ाई-लिखाई गयी, अब घर-द्वार भी छोड़ बैठे हैं लाला !"

द्रौपदी कुछ नहीं बोली। उसने बुझती हुई लुकाठी उठायी और चिमटे से ठोक-ठाककर उसे चूल्हे में लगा दिया। फिर दाल की बटलोई पिछले चूल्हे पर रखकर, सँड़सी से पकड़कर तवे को उठाने लगी, तो वह सरककर गिर पड़ा और थाली की बारी से लग जाने के कारण जोर से झनझनाहट हुई।

रामशरण को गुस्सा-सा आ गया। बोला, "सुनती हो, मैं कुछ पूछ रहा हूँ !"

पर द्रौपदी ने कोई जवाब नहीं दिया।

आखिर परेशान होकर, रामशरण चौके के पास चला गया। झुँझलाकर बोला, "किसानों के इतने बड़े लड़के घर-गिरस्ती सँभालते हैं, खेत-खलिहान देखते हैं। खूब मनमाना सेओ मुर्गी के अन्डे की तरह !"

द्रौपदी से नहीं रहा गया। उसने बड़े गुस्से में कहा, "इतनी रात बीते आये हो, तो झगड़ा ही करना है या खाना-पीना भी है ! मैं कोई लौंडी-चेरी हूँ, जो बज्जर की तरह गिरस्ती का भार अपनी छाती पर ढोती रहूँ। गरीब के घर से आयी हूँ तो क्या हुआ, माँ-बाप ने गाली सुनने के लिए तो नहीं भेजा था। ऊपर से तुम्हारा यह तुर्रा, यह सब मेरे मान का नहीं, कल सवेरे मुझे भेजवा दो यहाँ से।"

रामशरण की समझ में कुछ बात आयी। एक हल्की-सी हँसी उसके चेहरे पर आने को हुई, पर परस्थिति की गम्भीरता सोचकर वह चुप रह गया। पास ही रखे गगरे से उसने पानी लिया, हाथ-मुँह धोया और पीढ़ा लेकर चौके में बैठ गया। द्रौपदी ने जल्दी-जल्दी कुछ अधजली, कुछ अधपकी रोटियाँ उसकी थाली में फेंकीं और जैसे ही रामशरण ने कहा, "अब बस करो !" वह चौका बढ़ाकर उठ खड़ी हुई।

अब रामशरण से न रहा गया। उसने कुछ हँसते हुए कहा, "आज उपवास होगा क्या ? लगता है, जीतू बिना खाये चला गया है।"

"चला गया है तो मैं क्या करूँ ? कहो तो सारे गाँव उसके पीछे नाचती फिरूँ। यह तो कहो, मेरी ऐसी बेहया है, जो सब-कुछ झेलकर भी उसे घर में रखे हैं, नही तो कब का वह घर छोड़कर भाग गया होता और उसपर भी मुझी को..."कहते-कहते द्रौपदी का गला भर आया और आँखों से आँसू बहने लगे।

रामशरण ने कहा "क्या हुआ, कुछ बताओगी भी।"

द्रौपदी ने कोई उत्तर न दिया, जल्दी-जल्दी हाथ-मुँह धोकर अपने कमरे में चली गयी।

रामशरण के पिता तीन भाई थे। तीनो के एक-एक लड़का था। रामशरण सबसे बडे भाई का, उम्र में सबसे बड़ा लड़का था, जीतू सबसे छोटे भाई का इकलौता। जीतू जब माँ के पेट मे आया, तभी उसके बाप को मृत्यु हो गयी और जब जीतू तीन महीने का हुआ, तो उसकी माँ भी चल बसी। रामशरण के बाप ने जीतू को बडे स्नेह से पाला था और मरते समय जीतू का हाथ रामशरण के हाथो में देकर कहा था, "यह मेरा धरोहर है, बेटा ! धन तो नही दे सका, पर एक परानी दे रहा हूँ। इसे अपने बेटे की तरह ही पालना।" रामशरण ने बाप की बात सिर-आँखों पर ले ली थी और उसकी पहली पत्नी ने भी जीतू को अपने जाये बेटे की तरह माना-जाना था। लेकिन जब उसकी पहली पत्नी भी जीतू का हाथ रामशरण के हाथो मे सौपकर और, "यह मेरी कोख ही का लाल है, इसे परान से भी ज्यादा समझना," कहकर चल बसी थी, तो रामशरण का धैर्य टूट गया था। उसे रात-दिन जीतू की चिन्ता सताया करती थी। पहले तो उसने यह तय कर लिया था कि वह अब शादी ही नही करेगा, कौन जाने कैसी बहू आये और जीतू से उसकी पटे, न पटे। पर जब डोभी के पटिहार दादा ने उस ग़रीब की

दुर्दशा बतायी और लड़की के गुणों की बहुत प्रशंसा की, तो वह शादी पर राजी हो गया। फिर भी उसने पटिहार दादा से कह दिया था कि, "दादा, दूसरी शादी में जो होता है, वह सब मुझे मालूम है। मैं जीतू के कारण ही शादी नहीं कर रहा था, इसका ध्यान जरूर कर लें, नहीं तो मुझे नरक में भी जगह नहीं मिलेगी।"

शादी के पहले रामशरण को एक और आपत्ति का सामना करना पड़ा था। उसके मझले भाई ने अलगा-गुजारी करते समय नाबालिग जीतू के हिस्से का भी आधा चाहा था और रामशरण इस पर तैयार भी हो गया था कि चाहे जगह-जमीन सब ले लो, पर जीतू को मैं नहीं छोड़ सकता। अन्त में पंचायत ने जीतू का हिस्सा रामशरण ही के पास कर दिया था। पर गाँव में प्रायः यह बात उठती कि रामशरण ने अच्छा हिस्सा दबा लिया, बेचारे लड़के को बहकाकर, कैसा बेवकूफ़ बनाये हुए है।

यह जरूर था कि द्रौपदी को ब्याहकर घर लाने के बाद, रामशरण का कलेजा काँप उठा था। जाने कैसे निभेगी इसकी जीतू के साथ! लेकिन पहले ही दिन की देखा-देखी के बाद, जीतू का द्रौपदी के पैर छूना और उसका जीतू को खींच अपने पास कर लेना, देखकर रामशरण का सीना खुशी से फूल उठा था, आँखें भर आयी थीं और पहली पत्नी की तस्वीर उसकी आँखों में घूम गयी थी।

बहुत सवेरे जब धुँधलका नहीं फूटा होता, जब चिड़ियाँ अपने कोटरों में चूँ-चूँ करती होतीं—रोशनी के इन्तजार में या अपने नन्हों को प्रबोधने में, तो पूरब के घर से महीन, टूटता हुआ-सा स्वर कानों में पड़ता, जननी मैं न जियों बिनु राम...

रामशरण जैसे चौंककर उठ खड़ा होता। तभी बाल्टी खट से बोलती और कोई जैसे बड़ी उतावली में कहता "कुछ काम-धाम का भी धियान रहता है या बस सोना-ही-सोना होगा रात-दिन। जानते हो, जीतू को सवेरे स्कूल जाना होता है। अभी दूध गरम भी तो

करना होगा। कल निगोड़े मास्टर ने तनिक-सी देर होने पर उसके कान उखाड़ लिए थे। शाम ही से उदास पड़ा था। पहले तो बोलता ही न था, पर मैंने देखा तो उसके कान लाल हो गये थे। रात भर हलका-हलका बुखार रहा। आज पूछूँगी निगोड़े से कि बच्चे का मुँह भी देखा है कि पीटना ही जानता है। मै तो आज उसे स्कूल नहीं भेजूँगी। भाड़ मे जाए ऐसी पढ़ाई। कौन यहाँ डिप्टी-दरोगा होना है। देह बनी रहेगी तो बहुत पढ़ाई हो जाएगी।

द्रौपदी ने जीतू को समझने मे ग़लती नही की थी, पर वह अभी ब्याहकर आयी थी, बार-बार उसकी आँखें भर आतीं और जीतू जैसे परेशान हो जाता। प्रायः वह पूछता "भैया ने कुछ कहा तो नहीं, भाभी? मैंने तो कुछ नहीं किया, तुमने मुझे डाँटा भी तो नही, भाभी! मै खाना भी तो खा रहा हूँ। क्या बात है, भाभी?" वह सवालों की झड़ी लगा देता और द्रौपदी उसके प्रेम में विभोर हो जाती।

"कुछ नहीं बबुआ, वह सुमित्रा है न, जिसे तुमने देखा था, बड़ी नटखट है। माँ को बड़ा परेशान करती है। मुझी से मानती थी, मुझी से खाती थी। जब मै तुम्हे खिलाती हूँ, उसकी याद आ जाती है।" द्रौपदी बड़े स्नेह से कहती और जीतू का सिर अपनी गोद मे खींच लेती। "कैसा सूखा सूखा-सा चेहरा हो गया है। धूल-माटी मे खेलकर तुमने क्या हालत बना ली है। चलो उबटन लगा दूँ।" और द्रौपदी उसे चटाई पर बैठाकर उबटन लगाने लगती। पर जीतू जैसे कुछ खो-सा जाता, उदास हो जाता, क्योंकि उसे लगता, जैसे भाभी के मन मे कहीं दुःख है और वह पूछने लगता, "तो सुमित्रा को यहीं बुला न लो भाभी। क्या हर्ज है? कहो तो मै ही जाकर लाऊँ।"

"अभी नही, लाला। थोड़े और बड़े हो जाओ, तब दूल्हा बनकर जाना।" द्रौपदी जरा हँसकर कहती और जीतू शरमा जाता।

इधर जीतू की परेशानियाँ भी कुछ बढ़ती जा रही थीं। द्रौपदी प्रायः दूध मे रोटी डालते समय उसे धोखा दे जाती थी। "बस दो ही डाली

है, तनिक-सी तो है, कल-कल के बच्चे आठ-आठ रोटियाँ खा जाते हैं। आखिर देह मे जोर कैसे आएगा।" और वह पाँच-छः रोटियाँ डालकर जीतू को खिला देती।

देवराजबो द्रौपदी से मिलने आयी थी। रामशरण बैठके में बैठा था। घर से निकली तो जैसे बहुत नाराज, कुछ भुनभुनाती हुई चली गयीं। रामशरण को सन्देह हुआ, पर उसने ध्यान न दिया। दूसरे ही दिन सुना तो आँगन की डरवाड़ के पास मझले भाई की बहू से वह कह रही थीं "बड़ी इतमानी बहू है, बहिनी! जैसे दूध-भात उसी के घर मे तो है। अभी तो कल की आयी है। बंस न बरखा, दूसर के बेटे पर इतना गुमान है, तो अपना होगा तो न जाने क्या करेगी।"

"क्यो होने ही लगा, मइया। भाई का हक मारकर कभी कोई फूला-फला है!" मझले भाई की पत्नी कह रही थी।

रामशरण को बुरा लगा। उसे सन्देह हुआ, कहीं द्रौपदी ने कुछ कहा तो नहीं उन्हे। और वह सीधे द्रौपदी के पास पहुँचा। वह जीतू के कुर्ते में बटन टाँक रही थी, पल्ला ज़रा खींचकर खड़ी हो गयी।

"यह सब मैं क्या सुन रहा हूँ, लोग कहते हैं, तुम ठीक व्यवहार नहीं करती।" रामशरण ने कुछ गुस्से मे कहा।

"मैं बुरा व्यवहार करती हूँ? नहीं तो!" द्रौपदी को जैसे झटका लगा हो। उसने सूई चलाना बन्द कर दिया।

"तब यह देवराजबो क्या कह रही थीं?

"अरे हाँ," द्रौपदी के सलज्ज चेहरे पर हँसी आ गयी, "कल वह आयी थीं, तो मैं जीतू को खिला रही थी। बारीवाली मैया ने बताया था कि बड़ी नजरही हैं वह, सो मैं जीतू को लेकर घर में चली गयी। एक फूल का ऊँची बारी का कटोरा न ला दो, उसमें खिलाते समय कोई देख न सकेगा। कहीं नजर-बजर लग जाए तो वह भी एक झंझट।"

रामशरण कुछ न कह सका। चलने लगा, तो द्रौपदी ने पीछे से बुलाया "अरे सुनो तो!"

रामशरण खड़ा हो गया।

"जीतू के पास कोई कपड़ा नहीं है, मैंने अपनी वह चारखानेवाली नयी धोती फाड़कर दो कुर्ते बनवा लिए हैं। एक-दो धोतियाँ न ला दो!"

"अभी पैसों की बड़ी कमी है, इधर ब्याह-शादी में कुछ लग गया और लगान भी अभी बाकी है। फिर कपड़ों की ऐसी क्या जरूरत है, किसानों के घर में लड़के ऐसे ही रहते हैं।"

"नंगे जो घूमते हैं, घूमें! यह लो पाँच रुपये हैं मेरे पास, माँ ने तीज पर भेजे थे। इसी से मँगा दो!"

"रखो, रखो उसे, दो पैसे पास में रहेंगे तो काट थोड़े ही खाएँगे। अभी कपड़ों की जरूरत नहीं, जाड़ा-वाड़ा आएगा, तो देखा जाएगा।" कहता हुआ रामशरण चुपचाप चला गया।

इधर धीरे-धीरे जीतू के कड़े बालों में चिकनाई आने लगी। हाथ-पैर में रोज उबटन, सिर में तेल, पैर में जूते, साफ़ धोती कुर्ता। जीतू जिधर से निकलता, गाँव में उसी की चर्चा रहती। कोई कहता, "रामशरण अच्छी बहू ब्याह लाया, भाई! अपनों का भी कौन इतना ध्यान रखता है, देखो न, किसका लड़का यहाँ ऐसे रहता है, बड़े-बड़े लोग तो अपने को बनते हैं, पर बच्चों के पैर में जूते तक नहीं जा पाते।"

कोई मन गिराकर कहता, "अरे भाई, मन्दिर के पुजारी की लड़की है, जिन्दगी भर यही सब तो किया-दिया है। क्यों न ज्ञान बघारे लोगों के ऊपर। कहीं किसानों के बच्चे इस तरह रहते हैं! देखना, शोहदा हो जाएगा, शोहदा!"

जीतू के कानों में यह बात पड़ती तो वह शर्मिन्दा हो जाता। इसलिए इधर जब द्रौपदी उसे कपड़े-लत्ते पहनाकर, बाल काढ़ने लगती, तो वह कुछ जल्दी-जल्दी में उससे दूर होना चाहता और घर से बाहर होते ही अपने बालों को बिगाड़ लेता। लेकिन इतने पर भी स्कूल में लड़के उसे गन्दी-गन्दी बातें कहकर चिढ़ाते और उसके बालों में धूल और कनड़ो

पर स्याही डाल देते। जीतू बिगड़ता, तो लड़के उसे तरह-तरह से परेशान करते। कोई कभी चिढ़ाता, तो कभी सब मिलकर उससे बोलना ही बन्द कर देते। स्कूल के रास्ते पर वह अकेले ही चलता, कोई लड़का उससे बोलना पसन्द न करता।

पड़ोसी का लड़का चन्दर बड़ा बदमाश था और जीतू से बहुत जलता था। उसने लड़कों से राय की कि जीतू को बहकाकर कबड्डी खेलवायी जाए, वह भी नथुआ के ढेलेवाले खेत में। जब वह दाव देने आए तो पकड़कर खूब रौंद दिया जाए। जीतू बच्चों के साथ खेलने को उत्सुक रहता था। यदि कोई उससे प्रेम से बोल देता, तो उसके पीछे लग जाता। इधर दो दिनों से चन्दर जीतू के पीछे पड़ा रहता। द्रौपदी ने रामशरण की चोरी जीतू के लिए दो धोतियाँ मँगवा ली थीं। जीतू को उसने धोती, चारखानेवाली डोरिया का कुर्ता पहना दिया था, जूते साफ कर दिये थे, बालों में तेल डाल दिया था। जैसे ही द्रौपदी जीतू को लेकर बाहर छोड़ने आयी, चन्दर दीख गया। चन्दर उसे एक आँख न भाता। उसने जीतू को रोक लिया। कुछ देर बाद उसे घर के बाहर छोड़ा, तो दरवाजे पर खड़ी देखती रही। जब जीतू आँख से ओझल हो गया, तो वह घर में लौटी।

रामशरण मुकदमे के काम से कचहरी गया था। द्रौपदी एक पुरानी धोती जीतू की लगदी पर चढ़ाने लगी, पर उसका मन नहीं लग रहा था। एक बार सोचा, खाना बना ले, पर फिर पति के न रहने से उसका जी नहीं हुआ। उसने आँगन की धूप देखी, दिन चढ़ता जा रहा था। दीवार का वह निशान अभी दूर था, जब जीतू स्कूल से लौटता। उसने सोचा, कुछ पहले ही खाना बना लूँगी तो दोनों साथ ही खा लेंगे। तब तक ओ भी तो आ जाएँगे।

आखिर लगभग दो बजे, उसने आग जलायी और जीतू के घर लौटनेवाले धूप के निशान के पहले ही उसने खाना बना लिया। जीतू प्याज की पकौड़ी और कोई मीठी चीज खाना पसन्द करता है। घर में

गुड़ नहीं था। उसने कई गगरियों में हाथ डाला, कुछ न मिला, तो किसी से दुकान से गुड़ मंगवाया। गुलगुले भी बनकर तैयार हो गये। पर जीतू नहीं लौटा। पहले तो उसे चिन्ता नहीं हुई, पर जब दिन ज्यादा ऊपर चढ़ गया, तो वह बेचैन हो उठी। बार-बार घर के बाहर जाती, लौटती। सामने चन्दर अपनी गायें चरा रहा था, पर उसे वह बुलाना नहीं चाहती थी। और भी बच्चे तो स्कूल से आये होंगे। उसने बारी-वाली मैया के बेटे को बुलवा भेजा। उसने बताया कि जीतू आज स्कूल नहीं गया था।

"स्कूल नहीं गया था!" जैसे द्रौपदी के ऊपर वज्र गिर पड़ा। बोली, "स्कूल नहीं गया था, तुम जानते हो? तुमने नहीं देखा उसे, ठीक कहते हो?" द्रौपदी के माथे की नसें फूल आयीं। वह घर से निकल पड़ी। सामने ही चन्दर था। उसने पूछा, "तुमने जीतू को कहीं देखा?"

"नहीं तो, मैं क्या जानूँ उसे।" चन्दर ने झटके से उत्तर दिया और अपनी गाय हाँककर आगे बढ़ गया।

कई लोगों ने द्रौपदी को समझाया, आता ही होगा, कहीं चला नहीं जाएगा। फिर कोई बच्चा तो है नहीं, दस-बारह बरस का हुआ, थोड़ी देर और देख लो।

लेकिन द्रौपदी को चैन नहीं आया। उसने रामशरण के एक मित्र को जो गाँव के दूसरे छोर पर रहते थे, बुलवा भेजा और किवाड़ से पर्दा करके जीतू को स्कूल तक देख आने को कहा। वह हँसने लगे। द्रौपदी को बड़ा बुरा लगा। बोली, "आप नहीं जानते, रास्ते में दो-दो पोखरें पड़ते हैं। कहीं फूल तोड़ने न चला गया हो। पैर सरक जाने से फिर कहाँ पता लगेगा। वह दर्जिया के पीपरवाला कुआँ भी बड़ी कुजगह पर है। आप ईश्वर के लिए चले जाइए!"

जब वह जाने लगे, तो द्रौपदी ने उन्हें फिर रोका, "देखिए रास्ते में वह महरी रहती है न, वह जीतू को जानती है! उससे जरूर पूछ लीजिएगा।"

वह जैसे ही कुछ दूर गये होंगे कि महरी जीतू का हाथ पकड़े आती दिखायी पड़ी। उसका कुर्ता फटकर चिथड़ा हो गया था और पैर की एक अँगुली से खून बह रहा था। माथे की नसें चढ़ी हुई थीं और आँखें लाल हो गयी थीं। द्रौपदी ने जीतू को अपनी गोद में कस लिया। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे और जीतू भी हुचक-हुचक कर रोने लगा।

महरी ने बताया कि ये चन्दर वगैरा के साथ नथुआ के ढेलहे खेत में आज दिन भर कबड्डी खेलते रहे। उसी खेत में इन्हें पटककर उन सबों ने घसीट दिया है। देखती हैं न इनकी दसा? जब छोटे मास्टर इन लोगों की खोज में वहाँ पहुँचे, तो सब तो भाग गये, बेचारे यही पकड़े गये और उन्होंने कनइल की छड़ी से इन्हें खूब पीटा है। वह तो कहो मैं पहुँच गयी, नहीं तो बेचारे की न जाने क्या हालत हो जाती। और महरी ने जीतू का कुर्ता पीठ पर से उठा दिया। गहरी काली लकीरों से पीठ सूज गयी थी। कहीं-कहीं तो छड़ी धँस भी गयी थी।

द्रौपदी देखते ही चीख उठी। उसने आँखें बन्द कर लीं और देर तक रोती रही। आस-पास की कितनी ही औरतें जुट गयीं और बदमाश लड़कों और मास्टर को अँगुली तोड़-तोड़ कर गालियाँ देने लगीं। काफी समझाने-बुझाने पर द्रौपदी सँभली, तो उसने जीतू के कपड़े बदलाये, उँगली में पट्टी बाँधी और पीठ पर हल्दी लगाकर उसे चारपाई पर सुला दिया और बिना खाये-पिये उसके सिरहाने बैठी, उसे देखकर रोती रही।

इसके बाद से जीतू का स्कूल जाना बन्द हो गया। रामशरण ने बहुत समझाया, पर द्रौपदी के आगे उसकी एक न चली, उल्टे उसे यह भी सुनना पड़ा कि 'तुम तो चाहते हो कि वह इसी तरह पिटता-पिटता एक दिन कुएँ-तालाब में डूब मरे। कौन जाने इन बदमाश लड़कों को, किसी दिन गला ही दबा दें खेल-खेल में। मैं अब स्कूल नहीं जाने दूँगी।

कोई चाकरी थोड़े ही करनी है किसी को, अपनी खेतबारी देखेगा, यही बहुत है।'

"पर तुम खेत-बारी देखने दोगी तब तो ! आज भीग गया, कल घाम लग गया, परसों बुखार लग गया, पचासों बहाने तो हैं तुम्हारे पास। जैसा रुचे वैसा करो !" रामशरण ने जैसे अपने को अलग करते हुए कहा।

द्रौपदी को यह बात अच्छी नहीं लगती। रामशरण जीतू से इस प्रकार का अलगाव दिखाता, तो वह दुःखी हो जाती। कहती "हाँ, घर-द्वार से तुम्हे क्या मतलब !"

और जब रामशरण बड़े प्रेम से द्रौपदी के सिर पर हाथ फेरकर उसे अपने पास खींचकर कहता "द्रौपदी, कुछ काम-धन्धा भी दिखाओ अपने लाल को। कभी-कभी खेत ही भेज दिया करो मेरे साथ !"

तो द्रौपदी का गुस्सा अपनी सीमा पर पहुँच जाता। कहती, "तुम तो गृहस्ती की चक्की मे अभी से उसे पीस देना चाहते हो। किसी तरह उसे फँसाकर, खुद घूमने-फिरने की आजादी की फिकिर मे हो। अभी न व्याह, न दान, कल का लड़का, ठीक से बोलना भी नहीं जानता। जरा-सी मेहनत पड़ती है तो देह गरम हो जाती है। बड़े चले खेती कराने !" और वह जैसे पराई-सी उसके हाथों को झिटककर दूर खड़ी हो जाती।

रामशरण कभी भी देर तक इन बातों पर नही सोचता था। उसके मन मे चारों ओर सुख व्याप्त था, जैसे यह सब उसके मन ही का तो हो रहा है। पर जीतू की पढ़ाई बन्द हो जाने से उसकी चिन्ता बढ़ गयी थी। और अब बेकार जीतू के इधर-उधर घूमने और देर-देर तक बाहर रहने से वह चिन्ता, उदासीनता मे बदलती जा रही थी।

द्रौपदी की सोह पाकर जीतू गाँव में किसी को नही सेटता। बड़की कोट के बाबू रामशरण के अपने यजमान हैं, बड़ा मान-जान है रामशरण का वहाँ। पर जीतू ने एक दिन उनके लड़के से लड़ाई कर ली, दोनों की कुश्ती भी बद गयी। वह अपने घर मे एक अखाड़ा चलाता है, फिर जीतू ही क्यों बाज़ आये। उसने भी एक अखाड़ा खोल लिया और कस-

रत-कुश्ती का नशा उसके दिमाग़ पर सवार हो गया। द्रौपदी भी कब पीछे रहनेवाली थी। दूध को मेटकी और गिलास लेकर अखाड़े तक पहुँच जाती। जीतू को जिताना जो था जमींदार के लड़के से। रात को औटे हुए दूध के ऊपर का मलाईदार हिस्सा जीतू को जबरदस्ती गले के नीचे उतारना होता। ऊपर से हनुमानजी को सवा सेर लड्डू और काली माई को लहँगा-चुनरी की मनौती।

पचैया के दिन बड़े स्नेह से आशीर्वाद देकर जीतू को द्रौपदी ने विदा किया। और घर के चौकठे पर हनुमानजी और काली माई का स्मरण करते हुए बैठी रही। उधर सारा गाँव एक बहुत बड़े बाग़ में जमा था। कहीं कबड्डी, कहीं बढ़ी और कहीं सुर्रा की ध्वनियों से आकाश गूँज रहा था। वर्षा का स्वागत करनेवाले इन युवकों के शरीर पर जवानी खेल रही थी। ठाकुर साहब भी मैदान में डटे थे पर उन्हें खबर कहाँ कि आज जीतू और उनके लड़के की कुश्ती होनेवाली है। नौजवानों ने जीतू को देखते ही आवाज दी "आ गया शेर! आज हो जाए फैसला, जै बजरंग बली की!"

और जीतू लँगोट बाँधकर अखाड़े में उतर गया। उधर से ठाकुर साहब का लड़का भी चमकती छींट की कसी चड्ढी चढ़ाये मैदान में आ गया। रामशरण पसो-पेश में पड़ गया। उसने ठाकुर की ओर देखा और ठाकुर ने उसकी ओर, पर कोई बात न हुई। आँख मारते दोनों किशोर पहलवान अखाड़े में जुट पड़े। देह जीतू की बहुत कम थी। ठाकुर के लड़के ने उसकी गरदन पकड़कर खींची तो जीतू के घुटने जमीन पर टिक गये पर वहीं से जीतू ने उसके हाथ पकड़, घूमकर वह दाँव मारा कि ठाकुर का लड़का चारों खाने चित। चारों ओर खुशी की आवाज गूँज गयी। ठाकुर का मन दुःखी हो गया। रामशरण को हँसी आयी, पर ठाकुर को दुखी देख, उसकी हिम्मत छूट गयी। तब तक जीतू दौड़ता आया और रामशरण के पैर छूकर, अपनी गोल में भाग गया।

उस दिन रामशरण बड़ा दुःखी हो गया। घर लौटा, तो द्रौपदी की

खुशी देखकर उसे बड़ी ग्लानि हुई। पहले तो वह कुछ बोला नहीं, पर बातों-बातों में उससे द्रौपदी का बड़ा झगड़ा हो गया।

रामशरण को यही दुःख था कि द्रौपदी को दीन-दुनियाँ का कुछ भी खयाल नही रहा। आखिर गाँव में बड़े लोगो से दुश्मनी मोल लेकर वह कैसे रहेगा। कल बड़ा होने पर जीतू भी उससे अलग हो जाएगा, तो उसका क्या होगा। उसने यह भी कहा कि मैने बडी दुनियाँ देखी है, हाथ-पाँव होने पर कोई किसी का नही होता। जीतू ने जो तमाशा गाव में खडा कर रखा है, उससे हमारे दुश्मनो को अपना काम साधने मे कितनी आसानी हो रही है और बड़े ठाकुर...उन्ही का जोत-पोत करके तो...कहते-कहते रामशरण बहुत दुःखी हो गया और बिना खाये ही सो गया। जीतू को भी भाई की यह सारी बातें सुनकर बड़ा दुःख हुआ। आज पहली बार उसे लगा, जैसे वह भाभी का अपना लड़का नही है और वह नाराज होकर घर मे जा पड़ा। फिर रात को देर तक घर छोड़-कर भाग जाने की, भाभी के स्नेह की, भाई के व्यवहार की बाते सोचता रहा—भाभी ने चोरी-चोरी अपने सभी गहने बेच दिये हैं, मेरे ही लिए न, मेरे ही आराम के लिए न! आखिर मै क्यों उनकी सभी बातें मान जाता हूँ। वे जैसे रखती हैं, वैसे रहता हूँ। अब नहीं होगा यह सब। अब कभी भी वह भाभी की बात नहीं मानेगा—नहीं...नहीं!—वह चीख़ पड़ा और अपने हाथो से अपनी आँखे दबाये फफक-फफक कर रोने लगा। द्रौपदी उसके सिरहाने खड़ी थी। उसके हाथों को अलग करना चाहती थी, पर जैसे वह पत्थर हो और एक ही बात "नही...नहीं..." उसके मुँह से निकल रही थी।

द्रौपदी सारी रात जागती रही पर जीतू खाना खाने न उठा, न सो ही सका।

दूसरे दिन सवेरे ही जीतू घर से बाहर चला गया। द्रौपदी ने उसे रोका, बहुत समझाया, पर उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं

पड़ा, उल्टे वह अब द्रौपदी की बातों का प्रतिवाद भी करने लगा। द्रौपदी जब खाना खिलाते समय, उसकी थाल के पास बैठती, तो वह जल्दी-जल्दी खाना खाकर उठ जाता। कभी परसी थाली छोड़कर चला जाता। द्रौपदी ने बहुत समझाया "वे तुम्हारे बड़े भाई हैं न, जीतू! अगर कभी कुछ कह ही दिया, तो उसे सह जाना चाहिए, बबुआ! अभी तो तुम बच्चे हो, इस तरह रहोगे तो कैसे चलेगा?" द्रौपदी बहुत दुःखी होकर कहती और उसके सिर पर हाथ फेरना चाहती, पर जीतू उसके हाथ हटाकर अलग हो जाता।

"चलने की कौन बात है, भाभी! मैं ही तो हो गया हूँ भार तुम-लोगों के सिर पर। जी में आता है कहीं सब छोड़-छाडकर चला जाऊँ, पर तुम...तुम क्यों नाहक मेरे पीछे परेशान होती हो!" कहते-कहते उसका गला भर आता और वह जल्दी-जल्दी घर से बाहर चला जाता।

जीतू की ये बातें सुनकर द्रौपदी का कलेजा फट जाता। वह सोचती, जाकर रामशरण के पैरों से चिपट जाए कि जीतू को सँभालो, उसे समझाओ, वर्ना कहीं चला जाएगा; पर रामशरण का रुख देखकर उसकी हिम्मत छूट जाती।

जेठ का महीना आ गया था। धूप बढ़ती जा रही थी। सुबह से ही लू चलने लगती थी। किसान जल्दी-जल्दी अपना खलिहान निबटाने में लगे हुए थे। जीतू दिन-दिन भर दवरी चलाया करता था। कभी मन में आता तो आकर खा जाता, नहीं तो वैसे ही रह जाता। द्रौपदी कभी खाना किसी से भेज देती, कभी उसी तरह चौके में बैठी-बैठी उसकी बाट जोहती। ऊपर से रामशरण उसे डाँटता, तो वह रोती और जाकर सो रहती।

एक दिन दोपहर को जीतू एक बड़े खाँचे में भूसा भरे खलिहान से लौट रहा था। बोझ रास्ते में बिगड़ गया। उसके सिर की पगड़ी कुछ खिसक गयी थी। उसकी गर्दन झुकी जा रही थी। पर वह घर को करीब समझकर बोझ गिराना नहीं चाहता था। दरवाज़े पर आते ही उसे

देखकर मझले भाई की स्त्री ने दौडकर बोझ थाम लिया और कहने लगी "किसके लिए यह कलेजा फाड़ रहे हो, बबुआ ! न मेहर, न लड़िका, कहाँ तक करोगे ! यही तो कहते हैं कि दो पकी रोटियाँ खिलाकर एक मजूर की तरह काम ले रहे हैं !"

मझला भाई घर से निकल आया था, कहने लगा "हमेशा ऐसे ही रहेगा यह, जिसे अपने हक का ध्यान नहीं, वह क्या कर सकता है दुनियाँ मे !"

द्रौपदी के कान मे यह बातें पड गयी। वह जीतू को आया समझकर दौड़ी हुई बाहर आयी, तो ईंट के झरोखे से देखा कि मझली बहू अपने आँचल से उसके माथे का पसीना पोंछ रही है, और कह रही है "जाओ, तुम्हारी भाभी ने मालपुआ बना रखा होगा, खाकर फिर . " वह कहती ही जा रही थी कि जीतू ने उसका हाथ झटक दिया। "इसीलिये इतनी ममता दिखा रही हो क्या ?" वह बुदबुदाता हुआ अपने घर मे घुस गया। द्रौपदी जीतू की बात सुनने से पहले ही वहाँ से हट गयी थी। उसके मन मे एक भयानक तूफ़ान उठ रहा था। इसलिए जब जीतू घर मे घुसा, तो उसने अपने घर की अरगनी अन्दर से चढ़ा ली। ज़ीतू ने बड़ी आवाज लगायी, कई बार पुकारा, तो वह निकली। जीतू ने उसे अनमनी देखा, तो उसका मन बड़ा दुःखी हुआ, पर जैसे-तैसे दो-एक रोटियाँ निगलकर वह फिर खलिहान की ओर भाग गया।

उसी दिन शाम को द्रौपदी को बुखार हो आया। घर कोई नहीं था। वह बड़ी रात गये तक अपने अँधेरे घर मे बड़बड़ाती पड़ी रही, "यह जीतू को क्या हो गया है...कैसी बातें कर रहा था वह, उन लोगो से... जाने कब से आया हुआ था...यह तो वह जानता है न कि भाभी बिना उसके खाना नहीं खाती...यह तो जानता है न...यह तो..." वह अँधेरे में घुंटी जा रही थी।

काफ़ी रात बीते रामशरण जला-भुना-सा आया, तो द्रौपदी को

खोजता फिरा। जब वह मिली, तो बिना उसकी हालत पूछे ही सुनाने लगा, "रानी जी, आराम कर चुकी हो, तो कान खोलकर अपने लाडले की करतूत का नतीजा सुन लो। ठाकुर का कारिन्दा आया था, परवाना दे गया है कि वे सारे खेत छोड़ देने होंगे, जो ठाकुर ने दिये हैं और लगान के बाकी दो सौ रुपये भी सात दिनों में दाखिल कर देने होंगे, वर्ना मकान कुर्क करा लिया जाएगा। कहो, अब तो मन भर गया न दुलार से।"

द्रौपदी जैसे किसी पत्थर के नीचे दब गयी हो, बोली, "तो तुम यह सब कह रहे हो...बोलो ..बोलो...बोलते क्यों नहीं?"

द्रौपदी रामशरण के पैरों से सट गयी थी। रामशरण उनकी हालत देखकर चौंक उठा। बोला, "यह क्या हो गया तुम्हे? अरे!"

उसने उसका माथा हाथ से छुआ तो बड़ा तेज़ बुखार चढ़ा हुआ था। बोला, "कुछ नहीं...कुछ नहीं, सब ठीक हो जाएगा। तुम सो जाओ। देखो, मैं जीतू को बुलाये देता हूँ।"

और द्रौपदी को चारपाई पर लिटाकर जैसे ही वह बाहर निकला, जीतू दहलीज में खड़ा था। रामशरण को देखा तो धीरे से बाहर चला गया। रामशरण के जी में आया कि उससे कुछ कहे, पर फिर ठाकुर-वाली बात उसे याद आ गयी और वह सीधे घर से बाहर हो गया।

धीरे-धीरे कई दिनों में द्रौपदी कुछ अच्छी हुई, पर जीतू को उसने एक बार भी अपने पास नहीं बुलाया। कुल ले-देकर उसके गले की एक सोने की हँसली ही तो बच रही थी, सो बेच-खूचकर उसने ठाकुर का लगान दिलवा दिया और रामशरण से कह दिया कि वह जाकर ठाकुर से माफ़ी माँग ले। ठाकुर खुद बाप-दादों की दी हुई इस जमीन को लेना नहीं चाहता था, इसलिए मान गया, पर रामशरण के मन में जीतू के व्यवहार के प्रति दुःख बढ़ता गया।

उस दिन शाम को द्रौपदी की तबीअत कुछ भारी थी, पर खाना तो बनाना ही था और लकड़ी का एक तिनका भी घर में नहीं था। जीतू

खेतों की मेड़ ठीक करके घर लौटा था। उसे कुछ भूख-सी लग आयी थी। घर पहुँचकर जैसे ही उसने कन्धे पर से कुदाली उतारी, द्रौपदी ने कहा, "घर क्या हो गया, नरक, न एक लकड़ी, न एक फाटा, कैसे बनाऊँ खाना। अपना हाथ-पैर थोड़े ही लगा दूँगी चूल्हे मे।"

जीतू को लगा जैसे भाभी मुझे ही कह रही हैं। इसलिए उसे कुछ झुँझलाहट हुई। बोला, "कहाँ सूखी लकड़ी मिलेगी, सभी लोगो के घर तो टाला है, ईंधन का।"

द्रौपदी को यह बात लग-सी गयी। बोली, "सो बात तो अलग है, जीतू! जब ब्याह कर लाओगे, तो पता चलेगा। ऐसी ही हालत रही, तो पेट पालना मुश्किल हो जाएगा।"

और जीतू, भाभी का मुँह ताकता रह गया था। क्या लोग जो कहते हैं, ठीक है? क्या सचमुच भाभी मुझे अपने से अलग समझती हैं? इतने दिनो से मुझसे बोली नहीं। मै कितना नीच हूँ, कितना, उफ! उसका धैर्य छूट गया और वह अपने मन में निश्चय करके घर से बाहर निकल गया।

उस दिन रात जब द्रौपदी चौके मे बैठी-बैठी सोच रही थी, तो उससे मन में स्नेह की एक ऐसी व्यापक भूख थी कि वह संसार को भूल जाना चाहती थी। किसे पाये और पकड़कर खूब लडे कि, "तूने मेरे जीतू को मुझसे छीन लिया! तूने मेरे छाती के लाल को, मुझसे अलग कर दिया! और उसका मन मँझले भाई और उसकी पत्नी की नीचता से विध रहा था। वह सोच ही रही थी कि वो आएँ, तो उनसे कह दे कि, जीतू का हिस्सा उन्हीं लोगो को दे दें, पर उन्हें समझा दें कि, मेरे जीतू को मुझसे क्यो फोड़ते है।" पर रामशरण की उट-पटॉग बातों से उसका मन और दुःखी हो गया। रामशरण ख़ुश था। उसे नयी आशा मिल गयी थी। वह ठाकुर के यहाँ से इतनी रात को लौटा था और ठाकुर ने लगान के दो सौ रुपये भी लौटा दिये थे।

आज द्रौपदी देर तक सोचती रही—जीतू कहाँ चला गया होगा?

कहीं भाग तो नहीं जाएगा ? तब मैं कहाँ पाऊँगी उसे ? अभी तो कहीं पास ही होगा, ढूँढने से मिल सकता है। दूर न गया होगा। चलूँ, इनसे कहूँ। वह उठी, चौखट तक गयी, पर उसकी हिम्मत न पड़ी। फिर वह अपने घर में लौट आयी। चारपाई पर बैठते ही उसे फिर डर लगा "क्या होगा, अगर वह बाहर चला गया, तो क्या होगा ?..." और धीरे-धीरे उसकी पलकें झँप गयीं, पर एकाएक वह चौंक पड़ी। "दौड़ो... दौड़ो ! मेरे जीतू को...मेरे जीतू को..."

रामशरण उठ बैठा। उसने जाकर उसे सँभाला।

द्रौपदी जग गयी थी। उसने रामशरण से पूछा, "जीतू लौटा ? अभी मैंने सपना देखा कि वह जोगी हो गया है, घर छोड़ गया है, सो मैं चौंक पड़ी।"

रामशरण ने उसे अपने सीने से सँभाल लिया था। उसने कहा, "सोचता हूँ कल जाकर सुमित्रा को बुला लाऊँ, तुम्हारी हालत दिन-दिन बिगड़ती ही जा रही है, ऐसे ही बुखार रहा तो..."

"मैं भी यही सोचती हूँ, तुम कल ही चले जाओ !" द्रौपदी ने कहा और फिर सोचते-सोचते रात के अँधेरे में खो गयी।

द्रौपदी की हालत दिन-दिन ख़राब होती जा रही थी। पहले शाम को बुखार आता था और सुबह उतर जाता था; पर अब चौबीसों घन्टे बना रहने लगा। कभी-कभी बुखार इतना बढ़ जाता कि वह बेहोश हो जाती और ऊल-जलूल बकने लगती। जो लोग उससे मिलने आते, उनसे यही कहती, "अब जा रही हूँ बहिनी...अब मेरा जीवन..." और उसकी आँखों में जीतू नाच उठता, पर दूसरे ही क्षण उसके चेहरे पर द्वेष के भाव उमड़ आते और वह सुमित्रा से कहने लगती, "सुमित्रा ! देख, दरवाजा लाँघ कर, उधर कभी मत जाना। उन लोगों का कोई ठिकाना नहीं..."

सुमित्रा सुनती और उसका माथा सहलाने लगती। "जीजी ! बोलो नहीं, बहुत बुखार है, वैद्यजी ने मना किया है।"

"भाड़ मे जाए तेरा वैद्य ! अब मुझे जीना थोड़े ही है, अब क्या रहा पगली !"—और एक कृत्रिम मुस्कराहट उसके चेहरे पर खेलने लगती। जैसे वह स्वर्ग को चिढ़ा रही हो। फिर क्षण ही भर बाद सुमित्रा से पूछती, "तुमने जीतू को देखा है। सुना है, उनके घर मे खाता-पीता है। मेरी बीमारी सुनकर भी तुम से कुछ नही पूछता ?"

और जैसे ही सुमित्रा कुछ कहना चाहती, वह बीच ही में टोक उठती, "रहने दे, रहने दे, मुझे किसी की कोई जरूरत नही। पर देख तू न जाना उधर कभी !"

सुमित्रा चुप हो जाती।

एक दिन सुमित्रा कुएँ पर पानी लेने गयी, तो देखा कि पीछे से जीतू भी चला आ रहा है। वह बगल मे खड़ी हो गयी। जीतू के हाथ में माटी की एक गगरी थी और दूसरे में सना हुआ आटा लिपटा था। सुमित्रा को देखकर उसने कहा, "चलो न, मै पानी भर देता हूँ।"

सुमित्रा पीछे-पीछे चली। उसके आटे में सने हाथ देखकर, उसे हँसी आ रही थी। बोली "तो पिसान भी सानने का काम तुम्ही करते हो, जीतू ?"

"हाँ, सुमित्री ! पेट बड़ा अधम है। कई दिनो तक तो यही सोचता था कि नही खाऊँगा, वैसे ही रह जाऊँगा। पर तब आशा थी, कहीं से उम्मीद थी, लेकिन अब मेरा आटा कौन सानेगा ? जब माँ से बढ़कर, मेरी भाभी ही मुझसे रूठ गयीं .."

कहते-कहते जीतू बच्चो की तरह रो पड़ा। सुमित्रा का भी दिल भर आया। वह वैसे ही खाली गगरी लेकर लौट गयी और द्रौपदी के सीने से सटकर रोती रही। जब द्रौपदी ने बहुत पूछा, तो उसने सारी बात कह डाली।

दुर्बल द्रौपदी पागल हो उठी—लड़खड़ाती, गिरती-पड़ती किसी तरह मझले भाई की दहलीज तक पहुँची। जीतू सिसक सिसककर चूल्हे में सिर गाड़े, गीली लकड़ी फूँक रहा था। उसके आटे से सने हाथ राख से भर गये थे। द्रौपदी का कलेजा पिघल गया। उसने एकाएक पुकारा, "जीतू! मेरे लाल..." और जीतू जैसे काठ-सा उसकी ओर देखता रह गया।

हरामी के बच्चे

—जरा-सी बात पर...लेकिन सभी बातें तो जरा-सी ही होती हैं। जरा-से देर मे साँसो के धागे टूट जाते हैं। बड़े-बड़े जालिम लोग, धूल में नाक रगड़ने लगते हैं। ख़ून के फ़व्वारे... ! फिर वही ख़ून, मैं हमेशा के लिए भूल जाना चाहता हूँ, मै कोई ख़ूनी हूँ, मैने किसी आदमी को मारा है ? नहीं, नहीं, बिल्कुल नहीं। मैने तो एक जानवर को—पागल जानवर को ..

उफ मै परेशान हूँ। क्यों लाल हो गया है, यह अँधेरा ? इसका रंग तो काला होता है ! मुझे कुछ दिखायी नहीं पड़ता, मेरी आँखें खराब हो गयी हैं, इन पर पाप छा गया है—एक ब्राह्मण को मार डालने का पाप—ब्रह्महत्या का पाप !

कैसी विकराल आकृति है ? ख़ून से सारा फ़र्श भीग गया है, लाल, चारो ओर लाल। दीवारे लाल, अँधेरा लाल, सब कुछ लाल, सब रक्त, ख़ून... ख़ूनी, लेकिन यह कोई नयी बात तो नहीं है। अकेला मै ही तो दुनियाँ मे नहो हूँ। बहुत से लोग ख़ून करते हैं और सजा—इसकी सज़ा...?

कितने मजबूत रस्से हैं। कड़ी-कड़ी गाँठें, गले को दबा रही हैं। ओह मेरी आँखें बाहर निकल आएँगी—बाहर। साँसे घुट रही हैं... अरे यह मच्छर! हाथ चट से गरदन पर बैठते हैं—फिर उसे सहलाते हैं। यह क्या लग गया हाथ मे, चिपचिपाहट कैसी? मच्छर का ख़ून, और फिर वही खून.. फिर वही हत्या ..

बात यों हुई, कि गाड़ी से उतरते ही मैं भौंचकिया गया। मुझे लगा, सारी आँखें मुझे ही घूर रही हैं। मै ही...मै ही...और मेरे जी में आया, मै भाग जाऊँ, पर सहसा, "टिकट...टिकट ..!" बाबू ने कहा।

"जी!" और फिर मै आगे कहने जा रहा था, "नौकर हूँ, मालिक उधर बैठे हैं।"

पर मैंने हाथ से अगल-बगल टटोला, तो वहाँ कोई डोल्ची, थरमस, होल्डाल या टिफ़िन-केरियर नहीं था। क्या सँभालता मै और उसने डाटा, "क्या बकते हो, मै टिकट माँग रहा हूँ। कहाँ से आ रहे हो, कहाँ जाना है?"

मै उसे टिकट दिखाने ही जा रहा था कि उसने चौकीदार को आवाज दी, "इन्हे बंद करो? बिना टिकट सफ़र करके, पागल बनने की कोशिश कर रहे हैं।"

"जी मै...मै..."

"कुछ नहीं साहब, आज कल यही तरीक़ा बन गया है लोगो का। प्लेटफ़ार्म पर बैठ जाएँगे। चोरियाँ करेंगे, क़त्ल करेंगे..." जैसे किसी बहुत नाजुक मशीन के सारे पुरजे, किसी गहरी चोट के कारण बिखर गये हों। मुझे पता नहीं, फिर उसने क्या कहा। जैसे मेरे कान का परदा फट गया हो। मै कुछ नहीं सुन पाया...कुछ भी नहीं... और पसीने मे मेरा सारा शरीर भीग गया...कत्ल.. ख़ून.. औरत ..पैसा...

लेकिन बाबू कब चला गया, कब अँधेरे का भयावह, काला बुरका मेरे ऊपर फैल गया? यह सब मुझे नहीं मालूम। बस मैं एक कोठरी में बन्द हूँ—गन्दी और डरावनी कोठरी, मृत्यु की कोठरी।

टिकट मेरे पास है, पर इसका मै क्या करूँ ? चौकीदार घूम रहा है पर उसके हाथ की काली लालटेन, उसकी लाल रोशनी—ख़ून की तरह लाल। मै मृत्यु के मुँह में हूँ। लेकिन वह चौकीदार, ही...ही करके खीस काढे, अपनी गद्दी पर सुरती मलते—मलते, तालियाँ पीटकर एकाएक सुर्ती की गर्द उड़ाता हुआ कह रहा है—

"भयवा टीसन का रोजगार ही अइसा है। चोर, बदमाश, उचक्का, अऊर सब तो सब, जब से विसराम पडित का कतल हुआ है..."

मेरे प्राण सूख गये। यह तो सब जानता है। शायद यह बापू और सत्ती के बाबा जगेसर दादा को भी...

और मुझे सत्ती की याद हो आयी,—डरने से काम बिगड़ जाएगा... जो कमज़ोर हैं, उन्हीं को सताती है दुनियाँ...जगेसर दादा बचा लेंगे... उनसे ज़रूर मिलना...उनसे...

"हो बुद्धू ही यार। दो रुपियो में तो जान बच जाती। चार आना हमें भी मिल जाता।" मेरे हाथ जेब में थे, सत्ती की बातें दिमाग़ में नाच रही थीं। मैने गुस्से मे कहा, "बुद्धू मै नहीं, तुम्हारा बाबू है। मेरे पास टिकट है ! होने दो सबेरा..."

"एँ..., टिकस...! सच बोल्यो...।" और भूत-से काले, डरावने मुँह में आग-सी जलने वाली, लालटेन का शीशा, हरे से लाल करते हुए उसने मेरे हाथों पर रोशनी डाली, जैसे ख़तरे का सिगनल दे रहा हो।..फिर गमछे को सिर पर लपेटते हुए, वह चम्पत हो गया और लौटा तो मै कोठरी से बाहर कर दिया गया। लेकिन चौकीदार मेरे पीछे पड़ा रहा। उसकी बातों से लगता था वह मेरे मृत बापू का दोस्त है, जगेसर बाबा का साथी है। इसलिए, मै चुपचाप उसकी बातें सुनता रहा।

अगल-बगल कुछ एक मुसाफ़िर मुकुड़ी मारे खुर्राटे भर रहे थे।

सामने की तौलने की मशीन पर, एक बहुत ही भयावनी मनुष्य आकृति, सिर नीचे किये, अपने बालो में, उगुलियो से कघी कर रही थी।

बीच-बीच में वह अपने हाथो से, अपने शरीर को जोर से पीट कर, कुछ सुनसुना देती और 'हो .ही' करके हँसने लगती।

"बेचारा पागल है।" मैंने बात बदलने के लिए कह दिया पर चौकीदार माना नहीं। "दो बज गये हैं, भइया! जमाना खराब है, यहीं बइठि के निवार लो रात। चलो जगह बताए देते हैं।"

वह तौलने वाली मशीन की बगल में पड़े, बड़े काठ के बक्स के पास चला गया, जो इस स्टेशन पर रुकने वाले शरीफ़ो का एक मात्र बैठक है। इसी बीच वह पागल, "कमीने कहीं के, हरामजादे...छीः...छीः ..,थू...थू" करता, जैसे सचमुच किसी के ऊपर थूकता, एक हाथ उठाये, खुले प्लेटफ़ार्म की ओर भागा। बाहर, बादलो से छनी, कुहासे-सी, हल्की चाँदनी के प्रकाश में, प्लेटफ़ार्म पर दौड़ती हुई वह आकृति ऐसी लगी, जैसे उसके उठे हुए, एक हाथ की उंगुलियाँ आसमान को छू लेंगी। देखते-देखते उसकी छाया लुप्त हो गयी, पर उसकी बात, उसकी घृणा, मेरे मन मे उतर गयी।

"मेरे साथ भी पंडित की बड़ी किरपा थी। टीसन मे उन्ही की दया से चाकरी मिली। सब जगेसर भइया के मरजाद का फल है, मुदा डुबो दिया सरजू ने सारा करम-धरम। इज्जत-पानी चला गया।" सहसा मैं बोलते-बोलते बचा। फिर मन को कड़ा कर, काठ की सन्दूक पर आसन जमाते हुए, सोचने लगा—यह मुझे भी जानता है, और यदि पहचान ले तो? और इस 'तो' ने उस काली लालटेन की रोशनी को मेरे लिए और भी डरावनी बना दिया। मेरा सारा शरीर पसीने से लथपथ हो गया।

"पुलुस सरजुआ को खोजती है। हमसे भी बहुत कहते थे। मुदा ये बेवकूफ नहीं जानते हैं कि, जगेसर भयवा का दमाद का हमार दमाद नहीं है? चाहे खून करे, चाहे डाका मारे, पर भइया तो तरस गये उसे देखने को, और इसी मे उनकी अखियन की रोशनी भी भगवान ने छीन ली। बेचारू को पुलिस का डंडा लिखा था, इस उमिर में। मन में आया

छूरा भोंक दें सालों के पेट में । पूछते थे, 'तुम्हारी बेटी से पंडित का क्या ताल्लुक था ?' सती, सीता-सी बिटिया पर ई तोहमद लगाते हैं कि, पंडित ने उसे रख लिया था । इसी कारण, सरजू ने पंडित को मार दिया है ।"

जैसे किसी वेश्या की, अँधेरी कोठरी की दीवार से कोई इट खिसक कर, अपने आप गिर गयी हो । मैंने जोर से साँस ली, फिर उसने रुकते हुए कहा, "भइया तुम नहीं समझोगे । इसमें बड़ा फेर है । बात यह है कि, जो पंडित मरा है न, उहिका बाप यही का जमीन्दार था । उसके घर में दो जने, भितरी नौकर थे । जगेसर भइया और रामू । दोनों माली थे । रामू तो असमय में चला गया पर पंडित ने उसकी गरभवती बीबी को, अपनी कलकत्ता वाली जमीन्दारी की कोठी भेज दिया । वहीं सरजू पैदा हुआ, और कुछ दिन के बाद उसकी माँ भी चल बसी । जगेसर भइया यहीं रह गये । देवता पंडित भी मर गये, तो जगेसर भइया ने कहा, 'पिरथी पर से धरम उठ गया ।' बहुत रोये, बहुत कलपे । का अब के मनई में वह पानी होगा, भइया ! जमाना लद गया । जगेसर भइया यही कहते हैं कि, 'आतमा की दुरगत हो रही है । देह छोड़ही के चाही ।' पर बेचारे जिस आशा में थे, वही काल हो गयी ।"

मैंने मौन तोड़ा, "क्या हुआ बाबा ?"

"ये मलिच्छ भाषा पढ़े लोग का कुछ ठेकाना नहीं । मुदा कुछ कहा नहीं जा सकता है, भगवान जाने । त्रिलोकी नाथ की माया विचित्तर है । सत्ती, अरे वही जगेसर भइया की कन्या । मुदा वह तो बड़ी सुशील है, बड़ी नेक । वही कलकत्ते की कोठी में रहती थी । जगेसर भइया, और रामू काका पहले ही से चाहते थे कि, सत्ती और सरजू का वियाह हो जाए । सो यह नये वाले विसराम पंडित सत्ती को, सरजू से बियाह करके वहीं रखने के लिए, ले गये । फिर बाद में बताया कि वियाह, मैंने कर दिया । भइया की दूसरी भी आँख चली गयी । तो मन में बड़े खुश हुए, कि अब क्या देखना है ।" कहते-कहते जैसे ही, उसने जेब में हाँथ डाला, शायद सुरती निकालना चाहता था, कि गाड़ी की सी...सी की आवाज

सुनाई पड़ी। स्टेशन-मास्टर हड़बड़ाया हुआ, अपनी काँछ बाँधता, बड़-बड़ाता, स्टेशन में घुसा और चौकीदार अपनी भयावनी बत्ती का रंग, लाल से हरा करते हुए उठ खड़ा हुआ, "जुलुम हो गया भयवा, गाड़ी सिंवल पर खड़ी हो गयी, मुदा हमे पता ही नहीं, राम-राम !"

उसी समय वह पागल, "सी...सी..." कहता हुआ आया और उस वजन करने वाली मशीन के नीचे बैठ कर, लोहे को सहलाने लगा। फिर जैसे, कोई बड़ी छिपी हुई बात कह रहा हो—बहुत मगन होकर, "अच्छा, तो नहीं...! नहीं...? थू है...थू है...थू..." और वह, उसी तरह, एक उंगली से आकाश की ओर इशारा करता भागा। मैंने इधर-उधर देखा। चौकीदार जल्दी-जल्दी चाभी घुमाकर, सिगनल गिरा रहा था और लोग बातें करते हुए, प्लेटफार्म पर चले आ रहे थे। मैं जल्दी-से उठा और चौकीदार की निगाह बचाकर, स्टेशन से बाहर चला आया।

हलवाई की एक दूकान—उसके सामने पड़ी, बड़ी चौकीपर कई आदमी और कुत्ते साथ-साथ सो रहे हैं। मुझे देखते ही, एक छोटी-सी कुतिया गुर्राती है और सब-के-सब भूँकते हुए, मुझे चारो ओर से घेर लेते हैं। मैं एक को डाँट कर भगाता हूँ, तो दूसरा मेरे पास पहुँच जाता है। फिर जब पीछे घूमकर, दूसरे को डाटता हूँ, तो पहले वाले पीछे लग जाते हैं। समझ ही में नहीं आ रहा है कि क्या करूँ। अन्त मे परेशान होकर, सोचता हूँ, किसी को बुलाऊँ और सहायता के लिए, इधर-उधर देखता हूँ, तो बगल मे खड़ी एक युवती मुझे देखकर हँस रही है।

गुस्सा हो आता है, और मै बिना सोचे-समझे बकने लगता हूँ, "अच्छा लग रहा है तुमको, लाज नहीं आती, किसी को परेशानी में देख कर हँसते हुए। चमरपिल्लियाँ पाल रखी हैं !"

लेकिन उसके ऊपर मेरी बातो का कोई असर नही पड़ता, बल्कि वह और जोर से हँसने लगती है, मेरी साँस, बेहद फूल रही है। मैं हास्यास्पद हो गया हूँ, कन्धे का गमछा एक ओर गिर पड़ा है और हाथ

का झोला दूसरी ओर। वे सारे कुत्ते इस बात-चीत के कारण, मुझे देखते हैं, कुछ सूँघते हैं, और वापस जाने लगते हैं।

वह जैसे मेरी हीनता पर व्यंग करते हुए कहती है, "वह अपना समान उठा लो, बैठ के सुस्ताओ! तुम्हारी देहिया तो काँप रही है!"

"तुमसे मतलब, तुम अपना काम करो!"

"बिगड़ रहे हो! अच्छा तो फिर कुछ न कहना" और वह जाते-जाते "लहनी-लहनी" दो बार कहकर, आगे बढ़ जाती है। सारे कुत्ते, पल भर में मुझे चारों ओर से घेर लेते हैं और फिर मेरी वही दुर्गति शुरू हो जाती है। बचने का कोई रास्ता न देख, मैं चिल्ला पड़ता हूँ। वहाँ सोये हुए, सभी लोग जग जाते हैं। दूकान के सामने, एक नन्हे-से खटोले पर, एक हाथी का बच्चा सोया है। वह हिलता-डुलता है। फिर कुछ चिढ़कर, भुनभुनाता है, "रामी, अरे ओ रामी! देख तो का हो रहा है?" रामी बड़ी शोख मुस्कराहट बिखेरती निकलती है।

"भगाओ, मदाड़ी-सदाड़ी को। फाजिल में बानर का मुँह दिखाएगा।" और उसका भारी पेट, फिर ऊपर-नीचे होने लगता है और नाक से, घर ऽ ऽ र ऽ र ऽ घर...ऽ ऽ रऽ र ऽ धों की आवाज निकलने लगती है, और अन्य लोग, मुझे, बहुत महत्वहीन प्राणी जान कर, अपनी-अपनी जगहों पर पड़ जाते हैं! मैं उस लडकी को देखता हूँ, उसके शरीर के मैले रंग और कीचट कपड़ों से, अभी रात का रंग मिला हुआ है, लेकिन उसकी बड़ी-बड़ी आँखों की सफेदी, इस धुँधलके में मुस्कराती हुई, डोल रही है। मुझे बहशत सवार हो जाती है। मैं हाथ से इशारा करके, कहता हूँ, "सुनो!"

वह फिर हँसने लगती है। फिर, "जाओ, अपना काम देखो! नहीं तो..." और वह उस, एक बालिश्त-भर, ऊपर-नीचे उठने-गिरने वाली तोंद की ओर इशारा करके, हाथ से उसके मोटापे का अन्दाज बता कर मुझे डराती है, "मार डालेगा।"

मुझे बेहद हँसी आ रही है। जी में आता है, इस लड़की को पकड़कर, इसके हाथ उमेठ दूँ, पर वह बाहर तो आए!

"अरे वह आग कैसी? कोई घर जल रहा है।" मैं डरने का अभिनय करता हूँ। वह दौड़ी हुई आती है। मेरे आगे खड़ी हो जाती है।

"कहाँ?"

"वहाँ!" मैं इशारा करते हुए, आगे बढ़ता हूँ। वह बढ़कर, कुछ दूर जाकर, रुक जाती है और बड़बड़ाती है, "झूठा! अभी चिल्लाती हूँ।"

मेरी रूह काँपती है। बढ़कर, उसका हाथ पकड़ लेता हूँ और वह ज़ोर से हाथ छुड़ाते हुए, चिल्लाती है, "बप्पा..."बस इतना ही, क्योंकि उसके मुँह पर मेरा एक हाथ है। वह तेज़ तलवार की तरह तराशती है, बदन को।

"पागल हुई हो क्या? क्यों नाहक़ मेरी ज़िन्दगी खतरे में डालती हो। मैं चला जा रहा हूँ।" मैं उसका मुँह छोड़ देता हूँ।

कुछ समझ में नहीं आता क्यों, किस लिए?

लेकिन फिर वही, नन्हे-नन्हें सिंधूरी हाथ-पाँव। पतली-पतली अँगुलियाँ...

रुन—झुन...रुन—झुन. .झुनुक—झुनुक . झुन...

रुन—झुन...रुन—झुन . झुनुक—झुनुक . झुन...

मेरे कान बहरे क्यों नहीं हो जाते, मेरी आँखें फूट क्यों नहीं जातीं?

वह राजकुमारी मन में बस जाती है, जो हँसती थी, तो मोतियों का ढेर लग जाता था और चलती थी तो, महावर से राह रँग जाती थी—

रुन-झुन...रुन-झुन.. झुनुक-झुनुक...झुन...

—साहब का तार मिला—हम तेईस सितम्बर को पहुँच रहे हैं।

बँगला साफ़ रहता था, पर नयी अवाई में और भी सफ़ाई हुई थी। गमले रँग दिये गये थे। मोटरें धोयी गयी थीं और खिड़कियों के शीशे साफ़ करते-करते, हमारे हाथों की नसें फूल गयी थीं। जमादार कहता था, "कहीं एक गर्द का जर्रा न रहने पावे। अब बड़े पंडित की बात गयी, मोटा हिसाब-किताब अब चलने का नहीं। हमारा छोटा पंडित तो साहब है, साहब! बिलकुल अंग्रेजी मामला है इसका।"

कभी खुश रहने पर जमादार कहता, "अभी क्या देखा, जब मेम ले आएगा, तब देखना। हिन्दुस्तानी औरतों से तो इसे सख्त नफरत है। गाड़ी भर तो आती हैं, एक से एक हसीन, पर हाथ से मोटर के भोंपू की तरह, सीना दबाकर, छीः कर देता है। और साहब के साथियों के बाद, बासी होते ही, बनवारी लाल के दल्लाली कोड़ों से उनकी दीक्षा की जाती है, फिर हरामजादियाँ उनका नाम पड जाता है। पता नहीं इनका क्या उपयोग है? सुना सिनेमा में काम करने और जरूरत-मंदों का बिस्तर गरम करने का काम करती हैं, ये।"

बूढ़ा खानसामा तो अधरम की इस दुनियाँ से ऊबकर, जहर खाने की बात रोज़ करता है, "भगवान बचाये इस लीला से, जिसका बाप बिना संध्या-वंदन के अन्न का टुकड़ा मुँह में नहीं डालता था, उसी का बेटा तिरियों का व्यापार करता है।"

मैं बहुत तह में नहीं जा पाता था इन बातों के, मन को काम का नशा रहता था। थोड़ी-थोड़ी तारीफ़ों के लिए ललचा करता था। इसलिए तार पाते ही, मैं साहब के स्वागत की तैयारी में लग गया था। मेरा पैर जमीन पर, इसलिए भी नहीं पड़ रहा था, कि सत्ती आ रही थी। सभी बातें सुनी थी। साहब ने भी कई दिनों मज़ाक में कहा था, "यहीं होगी तेरी शादी। सत्ती को मैं ले आऊँगा, क्यों?"

मेरी साँसें फूल गयी थीं। नसों में खून फूट निकलने को हो गये थे। माँथे पर पसीने की बूँदें उभर आयी थीं और मैं भागकर अपनी कोठरी में पहुँच गया था। बिस्तर पर पड़े-पड़े सत्ती की चाल-ढाल, रूप-

रंग, बात-चीत; सबका एक काल्पनिक ख़ाका बनाता और उसे सम्भाल कर दिल में सँजो लेता। पर दो दिनों तक लगातार, गाड़ी स्टेशन पर लगी रही, खाना बनता रहा, नाश्ता मेज पर लगता रहा, पर साहब नहीं आया।

पंद्रह दिनों के बाद सत्ती आयी थी।

सहसा उस दिन टैक्सी आकर खड़ी हो गयी तो मैं बेज़बान हो गया। समझ में नहीं आया कि क्या करूँ? कैसे जाऊँ, साहब के सामने? वह हँसता हुआ गाड़ी से उतरकर, मज़ाक कर बैठेगा और मुझे मुँह छिपाना पड़ेगा। फिर कैसे खड़ा रह सकूँगा? पर जाना तो था ही, इस-लिए गया। बात-चीत की कौन कहे, पंडित ने एक ऐसी टेढ़ी निगाह मुझ पर डाली कि मैं काँप कर रह गया। क्या हो गया भगवान? मैंने झट दौड़कर पैर छू लिया। शायद मैंने देर कर दी पैर छूने में। मैं बहुत देर तक सोचता रहा, पर पंडित कुछ न बोला। धीरे-धीरे वह बैठक में जाकर एक सोफ़े पर लुढ़क गया। जमादार जल्दी-जल्दी सामान उतरवाने लगा। सत्ती जैसे पाला की मारी, कुइन की तरह मुरझाई बैठी थी। आँख के पपोटों के नीचे, गहरी काली परछाँही—सारा मासूम शरीर, बेहद रौंदा और थका लग रहा था। जैसे कई रातों की जगी हो।

मेरा मन बेहद उदास हो गया। पंडित की वह नजर, जैसे मेरे मन में धँसती जा रही थी। मैं जल्दी-जल्दी सामान उतारता रहा, फिर सहसा।

रुन-झुन ..रुन-झुन...झुनुक-झुनुक.. झुन...

मैंने घूमकर देखा, कोई नवविवाहिता, अपने पति के साथ गाड़ी पकड़ने की जल्दी में बढ़ी जा रही थी। सहसा उसके पाँव में कुछ गड़ गया था और वह अपने पति के कंधे को, दोनों हाथों से पकड़कर उससे सट गयी थी।

"अरे छोड़ भी, भिनसार हुआ है। बैठ जाओ, निकालदेते हैं।"

"ऊइ माँ, परान चला गया...सी...सी..."

पर सत्ती...?

मैं फिर रास्ते में खो गया।

—गहरी काली रात थी। ज़ोर की हवा चल रही थी। बनवारी चार लड़कियाँ नयी लाया था। उस दिन साहब ने कहा था, खाना जाएगा बारादरी में, पर बनवारी नशे में झूल रहा था। उसने कहा, "मारो सालियों को यार! खिला-पिला कर देह कड़ी कर दोगे, तो पकड़ में भी नहीं आएँगी। एक तो, यह ऐसे ही, हर नये आदमी से मिलने पर, कुँआरी होने का नखरा करती हैं, दूसरे खाना दे दो!"

तूफ़ान बहुत बढ़ गया था। एकाएक रोशनी गुल हो गयी।

मैं क्रोध और वितिष्णा से काँप रहा था। आज समझ में आया, इसीलिए मुझसे नहीं बोलती, इसलिए पंडित मुँह फुलाए रहता है। बात खुल जाएगी। पता नहीं कैसे मेरे हाथ के झटके से, शीशे के दो जग, झनझनाकर ज़मीन पर गिरे और चूर हो गये। मैं आगे बढ़ने लगा, धीरे-धीरे, टटोल-टटोल कर और खाने के कमरे में पहुँच गया। इधर-उधर देखा, सत्ती नहीं थी। खानसामा कोयले के चूल्हे से, मोमबत्तियाँ जलाने की कोशिश कर रहा था।

"सत्ती कहाँ है?" शायद पहली बार मैंने दूसरे के सामने उसका नाम लिया था, उसने हँसकर उत्तर दिया था, "बड़े दिनों पर, उलट कर देखा बाबू!"

"कै आते हैं उसे, हर दम मचली छूटती रहती है। अभी तो यहाँ से गयी है। चूल्हे की मिट्टी लेने आयी थी।"

"मिट्टी क्या होगी?"

"खाती है।"

"क्यों?"

"अरे बड़ी सोंधी होती है, मन साफ़ हो जाता है।"

मै वहाँ से मुड़ा, तो टटोलते-टटोलते सत्ती के कमरे के दरवाज़े से आ भिडा। चारपाई चुरचुराई।

"कौन ?"

"नहीं...नहीं...मुझे न ले जाओ, मालिक ! मैं पैर छूती हूँ,...मै मिन्नत करती, हाथ जोड़ती हूँ।" और वह फूट-फूट कर रोने लगी।

"बनवारी...तुम ! नहीं, नहीं, मै मर जाऊँगी। वह खाल उकाचता है, वह मुझे बेहोश कर देता है—बेहोश..."

फिर कुछ सुनाई नहीं पड़ा। मै काँपता रहा, लड़खडाता रहा और न जाने कब, कमरे में आकर सो गया।

सोकर उठा तो मेरा मन बहुत हल्का था। उन सारी रहस्यमयी बातों के उत्तर के लिए, मैं तैयार था। मेरा क्या गया, मेरा क्या बिगड़ा ? मेरी पत्नी है क्या वह ? मै क्यो जलूँ ? मै क्यों उदास रहूँ ? भाड़ मे जाएँ साहब और सत्ती। मुझे नौकरी से मतलब, या तूफ़ान से।

उसी दिन, पहली बार मैंने पंडित की रखी हुई पुष्टई की दवा मे एक हबक्का लगाया। आधा दूध पीकर, आधे को पानी से पूरा किया और रसोई के लिए घी निकालते समय, एक लोंदा जीभ पर रख लिया। सब्जी लेने, बाजार गया, तो छँटी सब्ज़ियाँ लेकर, कई आने की आमदनी की। इसी तरह फिर, पिटरौल की चोरी मे ड्राइवर की सहायता करने लगा। रसोई के बचे सामान को सफलता पूर्वक बेचवाकर, खानसामा से हिस्सा लेने लगा।

लेकिन सत्ती, वह क्यो मेरे सामने पडती है ? क्यो आखिर, क्या मतलब है उसका ? और पड़ती भी है, तो क्या हुआ, मै क्यो सोचता हूँ उसके बारे मे ?

सामने पुलिस थाना था।

मैं सहसा डर गया पर डर किस बात का—किसलिए ? मैने तो पूरा कर दिया काम—अपना काम।

मुझे उस मार का ध्यान हो आया। कितना तेज हंटर चलाता था। उसी दिन तो, हाँ, उसी दिन, मै होश मे आया था। मेरा शरीर काँप रहा था। पाँव थरथरा रहे थे। मकान मे चारो ओर भयानक खामोशी छायी हुई थी—मौत की खामोशी। जाने क्या-क्या कहूँगा मै, जाने किसका भेद खोल दूँगा—सभी थर-थर काँप रहे थे।

साहब अपनी कुर्सी पर जला हुआ बैठा था।

"और खाओगे दवा ?"

मै चुप रहा।

"कब से खा रहा था ?"

"कभी से।"

"कभी से, हरामजादे !" और उसने एक साँस मे पचीसो झापड़ रसीद कर दिये।

"कौन-कौन शामिल है, इन चोरियो मे ?"

"मै नहीं जानता।"

"नहीं जानता ?"

"नही।"

"बनवारीलाल, लगे तो !"

और थोडी देर तक हंटरो की सपसपाहट के बाद, सब कुछ खो गया था। पता नहीं कहाँ था, मै। लोगो ने बताया, चार घटे के बाद, तुम्हे होश आया है। बात यह हुई, कि पुष्टई के हलवे की चोरी होते देख, बनवारी लाल ने; इसका ठीक पता लगाने के लिए, साहब को जमालगोटे का बीज ला दिया था और वह अमृत बान मे, ऊपर ही छिडक दिया गया था। मैने जब साहब को दवा निकालने के पहले, हबका लिया, तो थोड़ी ही देर के बाद मेरी हालत ख़राब हो गयी—कै-दस्त दोनो, मै लस्त हो गया। बनवारी लाल हँसा था, पर पडित ने कहा, "ठीक हो लेने दो। तब बताएँगे।

जमादार मेरी चारपाई पकड़ कर बैठा था। मेरे होश मे आते ही

कहने लगा, "सत्ती बहुत रोती है तेरे लिए सरजू, कहती है, मुझसे मिला दो उसे, पर पंडित ने आज-कल उसे कड़े पहरे में रख छोड़ा है। बड़ा गड़बड़ लगता है, सरजू!"

मेरे मुँह में कटोरी से पानी डालते हुए, कहने लगा, "उनके हाथ—पाँव बहुत हल्के पड़ने लगे हैं। बहुत थकी सी लड़खड़ाती चलती है। आँखें बाहर को निकली पड़ती हैं।"

"मैं कुछ समझ नहीं रहा हूँ, जमादार!"

"भइया, दो दिन से शाम को, टुटहिया फोर्ड में एक बूढ़ी-सी मेम आती है। सत्ती बुलाकर, जाती है और जाने घंटों क्या गिटर-पिटर होती रहती है। बनवारी के मुँह से सुना, 'खतम न कर दें साली को,' पर पंडित कह रहा था, 'बात छिप नहीं सकती। घर के सारे नौकर, गाँव ही के तो हैं और माँ, कुछ न पूछो! मुझे कहीं का न छोड़ेगी। उसे पता लगा, कि मैं गया इस जायदाद से। जानते नहीं पिता जी को। बड़े क़ानूनी आदमी थे। बड़ी बन्दिश कर गये हैं।' मेरा तो रोयाँ-रोयाँ सिहर गया सरजू। कोई भयानक बात होने वाली है। मुझसे तो, दो दिन से खाना नहीं खाया जा रहा है। बहुत जी घबड़ाता है, तो उस कोठरी के ऊपर, रोशनदान वाली, छत पर चढ़कर झाँक आता हूँ। बिस्तर में कलट-कलट कर, 'दादा! दादा!' चिल्लाती रहती है।"

मैं उठ बैठने को उतावला हो रहा था. पर जमादार ने मुझे मना किया। और कहने लगा, "बात यह हुई, कि कल शाम, जब वह बूढ़ी मेम आयी, तो मैं ऊपर चढ़ गया। रोशनदान से झाँक कर देखा, तो सत्ती के कपड़े हटा, रुई में लपेट कर, वह कोई दवा उसकी टाँगों के बीच डाल रही थी। दवा डालते ही, सत्ती गाय की तरह डकरने लगी—जैसे कोई मछली पानी से निकालकर, धूप में रख दी गयी हो।

"मेम कह रही थी, 'दर्द अन्दर लेने से काम होता है। कड़ा करो जी बेटी, कड़ा कर लो!' उसने दरवाजा खोला, तो साहब और बनवारी अन्दर आये, बड़े परेशान दीखते थे। मेम ने कोई खाने की दवा देते हुए

कहा, 'इस टिकिया को खिलाने से कै होगी और पेट पर जोर पड़ेगा। हो सके तो पकड़कर बैठाये रहिए पैरों के बल। आँख की रोशनी कम हो जाएगी, सुनाई कम पड़ने लगेगा, पर घबराने की बात नहीं।' मैं इस अधरम को देखकर, काँप गया। जी में आया जाकर, सालों का गला दबा दूं और मत्ती को उठा ले जाऊँ, पर उस कोठरी के आगे वाली गली में, ताला बन्द है। कोई उपाय तो लगती नहीं" और जमादार माथा ठोककर रोने लगा।

मैं उसे देखता रह गया था और दो महीने पहले का एक दिन, मेरी आँखों में नाच गया था—पीली धोती के बाहर, लटकते हुए काले बालों की लट, कैसे इतनी काली और लुभावनी हो गयी? हाथ—पाँव कैसे इतने चिकने हो गये? रंग कैसे इतना निखर आया? आँखों में ममता का विनय, कैसे भर गया! माँथे और गले पर, किस सूरज की रोशनी चमकने लगी? छातियों पर इतना भार कैसे झुक आया? मैं नहीं जानता था—ओह मैं उसे माँ नहीं समझता था—नहीं समझता था। मैं चारपाई से उठते-उठते गिर पड़ा था और जमादार ने मुझे चारपाई पर लिटाते हुए, खेदू ड्राइवर को आवाज दी थी और उसने—जिसे वह दुःखों को भुला देने वाली दवा कह कर पुकारता था; मुझे पिला दी थी। थोड़ी पीठ और टाँगों पर डाल कर मलते हुए कहा था, "हम देर में चेतते हैं, सरजू! पर जब चेतते है तो कभी नहीं सोते। तुम चिन्ता न करो। सब देख लेंगे।" और मैंने देखा, उसकी आँखों से चिनगियाँ छिटक रही थीं।

उस दिन कोठी के सारे लोगों के गले में, जैसे मछली का काँटा अटक गया था—सब गुम-सुम। कोई किसी से कुछ नहीं कहता था। पंडित इधर-उधर चक्कर काट रहा था। बनवारी बार-बार मोटर से बाहर जाता और लौटता। ड्राइवर जाने कहा चला गया था।

"क्या हुआ?" अगर मैं किसी से पूछता, तो सब जैसे उदास मन

से, "कुछ तो नहीं" कहकर वापस चले जाते। मालूम होता था, सबों ने कोई सलाह कर रखी है। मैं चारपाई पर लेटे-लेटे ऊब गया था। धीरे-धीरे उठा। पाटी पर हाथ रख कर जमीन पर उतरा और दीवार पकड़कर बाहर चला गया। चारो ओर सुनसान, कहीं कोई नहीं।

रात यही चार-पाँच घडी गयी रही होगी पर चारों ओर भयानक खामोशी, दूर से मृदग और कीर्तन की बड़ी धीमी स्वर लहरी सुनाई पड़ती थी। चारों ओर अँधेरा-गुप्प—बत्ती नहीं जलायी जमादार ने, या रात बहुत बीत गयी है, सब सो गये हैं? मैं धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा। सत्ती का ध्यान बना हुआ था। इसलिए उसे तो कुछ नहीं हो गया? पर जमादार दादा तो उसे लड़की की तरह मानते हैं। जरूर कहते मुझसे। मैं धीरे-धीरे बढ़ा। जाने कैसे मैं टो-टो कर बढ़ता-बढ़ता, रसोई की बगल वाली सीढ़ी पर चढ़कर, छत पर पहुँच गया। देखा रोशनदान के पीछे जमादार और खानसामा लेटे हैं—पेटों के बल, जैसे चंडू पी रहे हों। मेरे पैर की आहट पाकर सब-के-सब हकबका गये...फिर मुझे पहचाना तो भरोसा हुआ। मैं सोचने लगा, कैसी हालत है हमारी। क्या हम, मर-मार नही सकते? क्या हम, अन्याय का विरोध... और मुझे बनवारी के कोड़े और साहब के झापड़ याद आ गये। मैं उलटे पाँव, लौटने ही जा रहा था कि जमादार ने मुझे पकड़कर सत्ती को एक बार...उफः कितना भयानक था, सारा दृश्य। बनवारी उसकी चीखों को दबाने के लिए, उसके मुँह पर कपड़ा लगाए बैठा था और सत्ती तड़प रही थी—जैसे कोई जीवित सिधरी आग मे भूनी जा रही हो। उसके दाँतों की किटकिटाहट और होठों को दबाकर, गले और नाक से साँस लेने मे जो हूँ...हूँ...घूँ...घूँ की आवाज निकलती थी; उससे सूअर के हीकने पर, निकलने वाली, कराह का खयाल हो आता था। मुझे पसीना हो आया। शरीर कमजोर था, इसलिए उत्तेजना के कारण बेहोशी मालूम होने लगी। मैंने रोशनदान के शीशे पर माथा टिका दिया। सहसा उसके फैले हाथों की मुट्ठियाँ बँध गयीं, जैसे किसी

को ज़ोर से पकड़कर, मसल देना चाहती है। और साथ ही, दाँतों के पीसने की इतनी तेज़ आवाज़ आयी, कि मैंने कान बन्द कर लिए।

इसी समय वह बूढ़ी मेम, खट्-खट् करती अन्दर आयी। उसने सत्ती के दोनों पाँव मोड़कर कुछ फैला दिए, फिर पेट सहलाते-सहलाते टाँगों के बीच हाथ डाल कर, कुछ खींच लिया। खून का एक गहरा हुल्ला आया और सारे बिस्तर पर फैल गया। संसार के मुँह पर, काला नक़ाब पड़ गया। और इन्सान—मेरा इन्सान मर गया। अगुलियाँ ऐंठी और रोशन दान के शीशे पर, नाखूनों के खराश लग गये होंगे—मैं नहीं जानता।

पडित उखड़ा-उखड़ा सा रहता और बात-बात पर खाने को दौड़ता था। क्या सब जानते हैं मुझे। मेरी पोल सबसे खुल गयी? क्यों सबके चेहरे से मुस्कान चली गयी? शायद वह यही सोचता था।

प्रसन्नता की, कोई रेखा तो कोठी में दिखाई पड़ती? प्रेत के सियाह पखों के नीचे, हम डोल रहे थे। बस एक रोशनी थी, और वह थी, सत्ती। खानसामा उसकी रोटियों में, चुराकर रखा हुआ घी चभोर देता। अपने लिए छिपाकर रखी, गुद्दीदार गोश्त की हड्डियों को शोरबे में डुबोकर, उसके आगे टाल देता। ड्राइवर फल के झोले, मोटर से उतारते समय, दो बड़े सेब, जमादार की जेब में डाल देता। बूढ़ी भगिन भमूत की दो पुड़ियाँ, रोज़ जमादार को थमा देती, "का हाल है बिटिया की।" और वह उगुलियाँ चटकाते हुए कहती, "मर जाएँ निरबंसिया।"

रसोइयाँ पंडित गायत्री का जाप करके उठता, और कहीं सत्ती तरकारी काटती मिल जाती तो हममें से सब-के-सब, दुम दबाकर खिसक जाते, "पाप का अन्न खाकर, सब ससुरे पापी हो गये। हरे राम, हरे राम, कहाँ मर गये सब-के-सब साँड़, जो बैठा दिया है इसे सीत में, और मुट्ठी भर किशमिस-छुहारा, सत्ती के हाथों में थमाकर, उसे खिसकाते हुए, ख़ुद चाकू लेकर बैठ जाते। फिर क्या था, जो उनको काम से छुड़ाने जाता, उसी को सौ गालियों का प्रसाद भोगना पड़ता।

लेकिन कोई किसी से कुछ नहीं कहता था। सब-के-सब मुँह बाँधे अपने कामों पर जाते, और लौटकर चुप-चाप पड़े रहते। मैं सबको देखता, लेकिन कोई, मेरी ओर नहीं देखता, जैसे सबकी आँखें सत्ती की ओर बही जा रही हैं, और सत्ती! मैंने देखा, आँख ऊपर नहीं उठा सकती। बीच-बीच में आँचल उठाती, आँखों के कोरों को पोंछती और फिर जैसी-की-तैसी। सारे शरीर में दो आँखें और दो छातियाँ...बस इतनी है सत्ती। आँखों से पानी बरसता है, और छातियों से दूध। कई बार कपड़े बदलती, पर बंडी और आँचल भीगे ही रहते।

रोज़ देर से उठने के कारण, टोकी जाने वाली महरी को जाने क्या हो गया है कि सवेरे, मुँह अँधेरे ही, तेल का बड़ा कोसा लेकर सत्ती के कमरे में बन्द हो जाती।

एक दिन चुपके से जाकर, उसके पीछे खड़ा हो गया, तो जमादार से कह रही थी, "सोगहगी धोती रक्कत से बुड़ जाती है। बंडी-की-बंडी दूध से भीग जाती है, बबुआ!" जमादार की आँखें भरी हुई थीं। तभी ग्वाला गाये दूहकर, ऊपर आया और बड़ी बाल्टी, जमादार के आगे रखकर, एक लोटा जमादार के हाथों में देते हुए, बोला, "बकेनवा को अलग दूहते हैं। बहुत मजगूत दूध है...बिटिया के यही देना।"

महरी जाते-जाते रुककर बोली, "ना...ना...भइया, अरे बबुआ! यह दाल-दूध देने से, दूध बढ़ जाएगा। फिर बोखार होने लगी। आँख-कान दोनों मार गया बेचारी का। हम भूल गये बतावै के। तभी तो इतना दूध बहता है। जब सुरसतिया भवा रहा न, तो दूध ही नदारत। बइद जी ने बताया कि अरहर की दाल पीओ, फिर मार दूध ही दूध। रात-दिन पीए, चुकही न जाने। उसको कड़ी चीज..."

मैं यहाँ-वहाँ मारा-मारा फिरता। कब, कौन सा काम करता; इसका मुझे पता भी नहीं चलता था। सबका मुँह जोहता रहता, पर कोई मुझसे नहीं बोलता, कोई कुछ न कहता। पंडित ऊबा-ऊबा-सा घूमता, जैसे किसी

विपत्ति को पार कर लेने का असर टाल रहा हो। नौकरों पर झुझलाता, पर चुप हो जाता। कुछ कहने की हिम्मत न पड़ती उसकी।

किसी मेले का दिन था...ड्राइवर चूड़ियाँ अगुलियों मे लटकाये सीढ़ी पर चढ़ते हुए मिला। वह खुश था, "सत्ती कहाँ है सरजू?"

मैं उसी के कमरे से लौट रहा था। सत्ती मुझे देखते ही, खिड़की के छड़ों से सटी पुक्का छोडकर, रोने लगी थी। दूसरे कमरे से बनवारी के ठहाके की गूँज सुनायी पड़ रही थी। ड्राइवर चौंका,

"यह कौन हँस रहा है?" उसने दुबारा पूछा। मैंने कुछ भी उत्तर न दिया। हम दोनो खड़े सुनते रहे, फिर जैसे उसका पारा चढ़ गया हो, "अच्छा, देख ली जाएगी।" और वह आँखे निकालता, ऊपर चला गया।

कैसी लक्ष्मी है वह—मै सोचने लगा, कि पाप मे भी पूजी जा रही है, और मैं? मै ही पीछे हूँ, सबसे, मै ही। मै जीने से उतर गया। नीचे जमादार एक गुब्बारा और भोंगा लेकर लौटा था, बिना पूछे, यह कहते हुये ऊपर चढ़ गया कि, अभी तो बच्ची ही है, गाँव होता तो उसे भी मेला दिखा लाता।" तभी ज़ोर की घण्टी बजी। मै लौटा ही था पर घण्टी बजती गयी।

"हरामजादे, कमीने, सबको एक डब्बे में भरकर रवाना करता हूँ। हराम-खोर भरे हैं इस कोठी मे।" मै सामने था, "क्यो बे हरामी के बच्चे, आजकल सभा होती है, काम-धंधा सब गया।" बनवारी कह रहा था, "कम्यूनिजम आ रहा है दुनियाँ में—घर मे ही क्यो न आए" और वह जोर से हँसने लगा था। जी मे आया आँखे निकाल लूँ, लेकिन साहब की आग-सी जलती निगाह ने, फिर मुझे नीचे खीच लिया। मैंने पानी दिया, और पान के कमरे की घण्टी बजाकर लौटने लगा, तो साहब ने कहा, "यहीं खडे रहो, काम मे देर होगी तो चमड़ी उधेड़ दूँगा।"

सहसा दरवाजे की भड़भड़ाहट हुई। मैंने जमादार को दौड़कर बताया, तो वह खटिया की पाटी लिये, ऊपर दौड़ा, पर ड्राइवर मोटर का हैन्डिल लिये भागा जा रहा था, उससे लड़ गया और जमादार जमीन पर गिर गया। उसकी आँखों के ऊपर से ख़ून की धार बहने लगी। उसने अपने को सँभालते हुए कहा, "देख रहे हो मुंह, अभी ?" और मैं दौड़ा हुआ, ऊपर पहुँच गया। ड्राइवर हेन्डिल ताने खड़ा था। और महरी, सत्ती को अपने पीछे किये, पण्डित की पुश्त-दरपुश्त को तरा रही थी, "चबा जाऊँगी कच्चे, जो आँख उठायके देखोगे इस ओर।" और बनवारी के सिर पर एक लोटा बजा चुकी थी। पण्डित क्रोध से कांप रहा था—नशे मे धुत्, उसके पाँव थरथरा रहे थे। मुंह से गाज निकल रहा था। मैंने इधर-उधर देखा; खानसामा बड़ी कलछुल लिए, जमादारिन झाड़ू लिए...तभी पण्डित, महरी पर झपटा और उसे झोंकते हुए, सत्ती के बालों को पकड़ कर गिरा दिया। ड्राइवर बढ़ा, उसने हैन्डिल ताना, पर पीछे से मैंने हेन्डिल छीन लिया। पण्डित झुक कर सत्ती को घसीट रहा था। और जोर की 'फच्...फच्...'मैं नही जानता क्या हुआ, मैंने नही देखा, पर कई आवाजें गूंजती रही—

—तुम जाओ, दादा बचा लेगे...दादा.. दादा...बड़े बहादुर हैं... उन्हे बताना ..वे कुछ नहीं ज दूध ..कुछ नही, कुछ नहीं, डरना नहीं...

—जगेसर भइया का राज है वहाँ... हम देख लेगे—तुमने थोड़े मारा है, वह तो मैंने . कोई मोटी आवाज थी—सम्मिलित और कई हाँथ मुझे सहला रहे थे—कई बातें लड़ रही थी, कई बातें...

"मैं बचना नहीं चाहता, मुझे प्राण की अभिलाषा ? छीः और मैं हँसने लगा—जोर से। शायद पागल हँसते हैं ऐसे और मुझे, स्टेशन पर आकाश की ओर उठी उगुलियाँ याद आ गयी—छी—छी...... थू—थू...

"पागल हो का भयवा, खा रहे हो मन की मिठाई। छूटि जाई डोगी, तो राम नाम जपोगे दुप्पहर तक। करार घरे है नदिया।"

कोई कहकर दौड़ रहा है आगे। तभी मै सुनता हूँ, "छूटत है...डोंगी ...हो !!! जो आवै, सो दौड़ आवै।" यह मल्लाह की आवाज है। मै दौड़ पड़ता हूँ।

पितरों की भूमि पर, फैलाई हुई, इस गोमती को देखता रह जाता हूँ। बड़ी-बड़ी नदियाँ और समुद्र तक देखे हैं मैने, पर मिट्टी का ऐसा गौरव —ऐसा भरा-भरा सा किनारा, ऐसी अमराई की छाँह; मैने नही देखी। हहाती हुई पानी की धार, जैसे आसमान तक लुढ़कती हुई वह रही है। पेड़ो की चोटियों से लड़ते हुए पानी के थपेड़े, शरीर के रोये-रोये को कँपा देते हैं। कैसा अद्‌भुत है यह सब, मै खो जाता हूँ। लेकिन दौरियो मे दही के मटके रखे बैठी औरतों को कौन कहे

धीरे बहु नदिया तैं धीरे बहु,
मोरा पिया उतरइ दे पार।

मल्लाह जोर से गा पड़ते हैं, धीरे बहु SS . धीरेS ..धीरे बहुSS .. धीरेS...। और उनकी ऐंठी हुई माँस पेशियो से ढँकी, काली पीठों पर, पसीने की बूँदे, सूरज की पहली किरण से, चमक उठती हैं।

काहेन की तेरी नइया रे,
काहे की [illegible] करुवारि।
कहाँ तोरा [illegible]या खेवइया,
के धन उतरई पार।
धरमै कै मोरी नइया रे,
सत कइ लागी करुवारि।
सैया मेरा नइया खेवइया रे,
हम धन उतरब पार।..

धीरेSS.. धीरेS...धीरे बहु नदिया...तू धीरेSSS। आवाज, धार पर तैरती है, धार, आवाज पर, और हिलती हुई नाव, जैसे थपकियाँ देती है।

पता नहीं कब का, नाव से उतर कर जड़ियार की चौहद्दी में घुस चुका हूँ, पर सोचता हूँ,—दादा से सब बता देना.. जगेसर भइया सम्भाल लेंगे। सत्ती, जमादार, ड्राइवर, महरी, लेकिन क्यों जाऊँ बूढ़े के पास। मरने के लिए काफ़ी दुःख हैं उसके पास, पर सत्ती के दादा को, जमादार महरी और ड्राइवर के भइया को: देख तो लें—इस मिट्टी के गुमान का अन्दाज तो ले लें। मैं बढ़ता जा रहा हूँ, पर मन संदेह में है। हवा में डर है यहाँ। पंडित के ख़ून से गाँव पुलिस के जूतों के नीचे आ गया है।

दादा एक टूटी चारपाई पर पड़े हैं—अब उठ नहीं सकते। अन्त है, यह उनकी जिन्दगी का। पुलिस ने आग की आँच दिखाई है उन्हें, जूते सुँघाये हैं और भंगी से उनके मुँह में...ये नरक की यातना भुगत रहे हैं। उन्हें कुछ दिखाई नहीं पड़ता...

'हरे राम हो...प्रभू तू कहाँ हो... "

"मैं कलकत्ता की कोठी से आया हूँ"—पर नाम क्यों बताऊँ?

"कहँवा हो, कहँवा?" हवा में हाथ घुमते हैं—दो हड्डियों के हाथ, जिन पर सफेद रोयें हैं। बदबू दिमाग़ में भर जाती है—ऊफ़:!

"सच कहो, सत्ती—सरजू का वियाह हो गया है न?"

मैं चुप हूँ।

"सरजुवा नहीं मार सकता, मालिक की सेवा, हमारा धर्म है। रामू का बेटा...मालिक के...? ना, ना। उनके जूती के तरे ही हमारी मुक्ती है। चाहे जो करें, चाहे..." वे खाँसते हैं—करवट नहीं ली जाती उनसे, पर उनकी बातें? मेरा ख़ून खौल रहा है।

"और जो उसने शादी न की हो? सत्ती के साथ कुछ और ही..."

"हम मरती बार यह सुनना नहीं चाहते। मालिक की सेवा ही धरम है। चाहे मालिक जो करे, चाहे सत्ती के मारी डारे, और का कहो।

नहीं तो वे हरामी के बच्चे हैं, हमार नही, रामू का नहीं।" बूढ़े के मरे चेहरे पर ख़ून दौड़ आता है। जी मे आता है, टीप दूँ गला इसका—झंझट खत्म हो जाए।

"हरामी के बच्चे, हिह्...छी..."

उठ खड़ा होता हूँ। जगेसर के पाले हुए कुत्ते के दाँत, कच से पिंडलियो मे धँस जाते हैं...

हँसी आती है—जोर की हँसी। हाथ ख़ून की धार को पोछ कर, आपस मे घिस जाते हैं।

"ये हैं आदमी के बच्चे..."

मिट्टी का घोड़ा

मुर्गे ने बाँग नहीं दी और न तो कौवे ही बोले, रामू चाचा की खाँसी और हरखू की खटनही भी नहीं बोली, घर के किवाड़ो पर सिरपत ने भैस दुहने के लिए बाल्टी मागनेवाली तीखी आवाज भी नही दी, दादा ने जगने के लिए बच्चो को कोसा भी नही और जयराजी ने पुर पर जानेवाले बैलो को छोड़ा भी नहीं, न तो धोती का कछाना मार कर, अपने गले मे मोटे रस्से से लपटा हुआ जुआ ही टाँगा पर सुबह हो गयी। यह भी अजीब सुबह है—इसका रंग आठ ही दिन मे कितना बदल गया है। फिर वही पुरानी सुबह, कमरे के नीले पर्दों मे छिपी हुई, पीली, मुर्दार सुबह—जिसे निर्जीव लोहे की घड़ी अपनी सूखी कटवी आवाज से बुलाती है और फिर बिजली की रोशनी में वह एकाएक सूखकर सफेद और बेजान हो जाती है। बशी मशीन की तरह बिना कुछ बोले, जैसे डरता-डरता कमरे में झाड़ू दे जाता है, घोंघू डालडा की मिठाइयाँ रख जाता है और वाजपेई बिरला की मशीनों द्वारा ढले, समाचारो से मन को भिन्ना देता है। क्या उसकी मशीन भी कभी खराब नहीं होती और नही तो

क्या यह सुबह भी कोई सुबह है—टूटी, भोंडी, सफेद और मुर्दार......

पर आज की सुबह बुरी नहीं, गो यह लोहे की पटरियाँ, पहिये और काठ के डब्बे लगातार इस कोशिश मे है कि वे इन दोनों सुबहो को मिला दे, पर अभी इन्हें सफलता नही मिली है। ये कार्य रत हैं। देखो न, कितनी तेजी से भाग रहे हैं और लगता है, ये स्थिर हैं। वह स्थिर मजबूत धरती, जो टस-से-मस नही होती, भाग रही है, भाग रही है। नहीं, नहीं, यह महज इन पहियों की शरारत है, जड़, होशियार, मशीन...,

लेकिन बाहर इस हल्की भूरी चादर में लिपटे हुए गाँव उसी सुबह की आगोश मे डूबे हैं, सराबोर हैं, जिससे मै भाग रहा हूँ। इन आम के पेड़ो पर और बाँस की कोटों मे बैठी वही मैना बोलती होगी। इन कुओं पर वही जयराजी पुर नाधने आएगी और उन गायों का दूध वही सिरपत दुहेगा। फिर रम्हाते हुए बछड़े और हवा मे धीरे-धीरे तैरती हुई, बैलों की घंटियाँ जरूर बजती होंगी, पर ट्रेन सुनने दे तब न। आखिर यह खामखाह बीच में क्यों आ गयी है? शायद यह मेरी शहरी सुबह की दोस्त है और मुझे भुलाकर जबरदस्ती अपनी सखी के गले बाँधना चाहती है। पीले जवानी मे ही बूढ़े दिखाई देनेवाले इन्सान, निर्जीव और पत्थर का-सा दिल रखने वाली काली सड़कें, कैंचियो से तरास कर बुत की तरह घूरनेवाले पेड़ और सुन्न एकाकार और इशारे पर चलनेवाली बत्तियाँ और सैकड़ों-हजारों-लाखों न जाने इसके कितने दोस्त हैं।

नन्हे ठढे हाथ, हाँ, यह बच्चा ही है। सीट के सहारे घूमते-घूमते मुझे दूसरी दुनियाँ से खीच लाया है। कमजोर पसलियाँ झाँक रही हैं, बाहर पेट निकला पड़ता है, नाक बह रही है। पर यह बच्चा है। इस बूढ़े आदमी के साथ होगा, जो सुबह ही से खाँसते-खाँसते हाँप रहा है। जो करीब-करीब नंगा ही है। पर बच्चे की देह पर एक कमीज है, जिसमे गन्दगी ने अलग रग बना रखा है और नन्हे-नन्हे छेदो ने उसे डिजाइन दे रखी है। पर बटन एक भी नहीं; शायद इसको माँ नहीं होगी। दवा, सफ़ाई; खाना, फिर शिक्षा और नौकरी! नौकरी लायक होगा? अमूमन

यह जीने लायक ही न हो सकेगा; पर इसके माँ-बाप और बच्चे के अलावा, माँ यदि होती तो जरूर होती। छोड दिया होगा! यह आदमी शहरी मजदूर जान पड़ता है। शायद साफ़ बोलने की कुआदत का यह शिकार है! एक दिन मिल मैनेजर ने इसे बुलाया था और कहा, "भाई जोखू, हाँ,हाँ...आओ।" उसने कुर्सी की ओर इशारा किया। जोखू साहब की इस दरियादिली पर उमड़ा भी नहीं। बैठ तो गया और कुर्सी पर, साहब के कमरे मे; लेकिन मूर्ख कुछ भी जानता तो अच्छा ही होता। मुस्कराता और मुँह के अगल-बगल एक शिकनदार निशान बनाता, फिर हाथों की उँगुलियो मे एक लाचार शिकन लाता पर यह पत्थर तो पत्थर! साहब ने कहा, "देखो यह जो खाता मास्टर है न, जो नेता हैं, अब हम तुम्हे वहाँ रखना चाहते हैं" पर जोखू कुछ नहीं बोला।

"डेढ़ सौ पगार है। बस तुम्हे इतना कहना है कि, उसने पगार के दिन तुमसे पाँच रुपये घूस मे लिये।" "मेरे मान का नही।" वह बाहर निकला और फिर दूसरे दिन से मिल का फाटक उसके लिए बन्द हो गया। घर आकर, जला-भुना ज़रूर होगा और खाना न मिलने पर बीबी ने नाक-भौंह भी सिकोड़ा तो उसे बुरी तरह से पीटा। फिर क्या, वह पुराना दोस्त जो कई बार, अपनी जुल्फों मे तेल डाले और कानों मे सोने की बालियाँ पहने, उसे बाजू-बरेखी दिखाया करता था, उसकी बन आयी होगी, और यह बचा, यह बूढ़ा...

—नहीं नही, यह अस्पताल की देन हो सकता है। पर नहीं हास्पिटल के जनरल वार्ड मे एडमिशन, बिना शिफ़ारिश......? शायद यह उसी दिन वहाँ गया हो, जिस दिन उसकी बीबी नल से भारी मिट्टी के मटके मे पानी भरकर ले आते समय बेहोश होकर, गिर पड़ी हो और लोगो ने कहा हो "जोखू अब आज-कल मे इसे बच्चा होने को ही है।" पर उस दिन भी नही, और हाँ, डॉक्टर ने जरूर कहा होगा, "कि मुर्दे के लिए यहाँ जगह नही है। कहीं श्मशाम पर जगह ढूँढ़ो!" और बेहोश लाश को, जब एक सड़ियल एक्के पर ढोता हुआ, जोखू लौटता रहा होगा

तो एक कराह फूटी होगी; मरीज के बदन में ऐंठन हुई होगी और उसके दाँत आपस मे मिलकर आवाज किये होंगे। जोखू घबराया तो होगा ही, और जब उसने मरीज का खौफनाक पीला मुँह देखा होगा तो उससे उसे डर लगा होगा और उसने एक्के से उतर कर, माँथा थाम लिया होगा। मरीज ने टाँग कुछ सिकोड़ी होगी, कराहा होगा और एक अजीब सी बदबू आयी होगी। एक्कावान तो बूढ़ा था। जान गया होगा और दूर हट गया होगा। इतना जरूर था कि इशारा कर दिया होगा। जोखू घर आया होगा। फिर बेहोशी। जच्चा ने एक बार बच्चे को चूमा भी न होगा, उसके नरम, सुहावने गालों को अपने सूखे गालो से सटाया भी न होगा. पर बच्चा जीवित है। निसन्देह यह बूढ़ा लगन का आदमी जान पड़ता है, पर क्या इसके चेहरे की गहरी, सूखी लकीरें, इसके गूँगे, बहरे भावों के गढ़े हैं? जमाने की मार ने उसकी कमर टेढ़ी की है? आँखो का पानी, जिसमे रहमत की आहनी रोशनी चमकती है, सूख चुका है...?

पर वह तो चला गया; ट्रेन छोड़कर, मेरे सवालो को छोड़कर उतर गया। उसकी सीट खाली है—चिकनी, साफ। लगता है यहाँ कोई बैठा ही नही था। पर बुढ्ढा अब भी खाँसता है, उसकी कमर के ऊपर का धड़, हर खाँसी के साथ, एक बार हिलता है, जैसे कोई कटता हुआ कमजोर पेड़ हर कुल्हाड़े की चोट पर हिलता हो पर वह खाँसी से लड़ रहा था, और रह-रहकर अपनी छाती पर हाथ रखता, उसे सहलता, लड़के को देखता, डब्बे पर निगाह डालता; लेकिन वह ट्रेन से उतर गया। शायद वह नहीं चाहता था कि कोई उसके बारे मे जाने—फिर यह घोड़ा, मिट्टी का घोड़ा! जिसके ऊपर की पालिश छूट चुकी है और तीन टाँगे टूट चुकी हैं, किसका हो सकता है? उसी बच्चे का होगा। बूढ़े ने जान बूझकर, अपनी कहानी का अगला हिस्सा यहाँ छोड़ दिया है। लड़का इसे यहाँ नही भूल सकता था, क्योंकि अभी वह इसे भूलना नही चाहता

होगा। उसकी चौथी टाँग तो साबित है, वह एक टाँग के घोड़े पर भी तो चढ़ सकता था—बच्चा, अबोध-नादान।

बगल वाली सीट पर वह जवान महिला सो रही है, पर उसका बच्चा जग गया है। उसके हाथ में भी घोड़ा है पर मिट्टी का नहीं, रुई का नरम और खुशनुमा। महिला के सीने और घुटने से रेशमी लिहाफ़ खिसक गया है और उसकी गोरी-चिकनी माँस, पेशियाँ चमक रही हैं। बच्चा बार-बार अपने घोड़े के मुँह से उसकी छाती पर का कपड़ा हटा देना चाहता है। शायद भूखा है, उसे दूध चाहिए। रह-रहकर स्त्री के सेब के-से गालों पर और केशराशि पर घोड़े को दौड़ा देता है। उसका घोड़ा खुश है, पर वह घोड़ा जो मेरे हाथों में है, इसकी तीन टाँगें टूट चुकी हैं। यह पुराना है, उदास है पर उस घोड़े से मजबूत है। यह ज़रूर है कि इसने माँ की छाती और गालों पर दौड़ नहीं लगायी लेकिन यह कड़ा है, खुरदुरा, क्योंकि यह मिट्टी से जो बना है।

अब यह बच्चा इसे देख रहा है, ललचाई आँखों से, शायद इसे माँग ले, पर नहीं वह स्त्री जो है। बच्चे को घूर रही है। बच्चा समझ नहीं पा रहा है पर वह समझा रही है। "वह गन्दा है, टूटा है, तुम्हारे लायक नहीं है।" पर बच्चा ठिनक रहा है, मचल रहा है! वह जानता है कि यह घोड़ा कोई दूसरा खिलौना है।

मैं जान गया कि इस घोड़े की टाँगें कैसे टूट गयीं। सालभर हुआ होगा, जब बूढ़ा मिल की नौकरी छोड़कर एक साहब के यहाँ काम करने लगा था। वह काम से लौटा होगा, तो बच्चे को अड़ोस-पड़ोस के कई बच्चों के साथ खेलते पाया होगा। हाँ, वह सीधे धुएँवाली कोठरी में चला गया और वहाँ भीगी लकड़ियों को जुटा कर, चूल्हा जलाने लगा। इतने में बाहर, बच्चों के चिल्लाने की आवाज आयी। उसने देखा तो पड़ोसी का बच्चा अपना मिट्टी का घोड़ा लिए दौड़ा चला जा रहा है। उसने अपने बच्चे से पूछा, तो उसने कहा "घोला लूँगा" उसने समझ लिया कि यह उसका घोड़ा छीन रहा था लेकिन वह लेकर भागा है और यह रो रहा है।

उसने बेरहमी से उसका हाथ पकड़कर उठा लिया और बच्चा चिल्ला उठा। बूढ़ा पड़ोसी अपने एक हाथ में हुक्का सँभाले, दूसरे में एक सफ़ेद नया घोड़ा लिए आया और कहने लगा, "ओ मुन्ना! अरे ओ मुन्ना! ले, लेजा बेटा!" और बच्चा बाग़ बाग हो गया होगा।

पर गलती यह हुई कि बूढ़ा बाद में मुन्ना को भी साथ-साथ कामपर ले जाने लगा, क्योंकि अब मुन्ना चलने लगा था। एक दिन वह मोटर के नीचे आते-आते बचा तो मोटरवाले ने, जो कोई बड़ा शरीफ़ था, बेचारे ने मोटर से उतरकर, जाँच-पड़ताल की, और जब बूढ़ा मिल गया तो कुछ ज्यादा नहीं, यही दो-ढाई सौ गालियाँ सुनायी। बूढ़े ने उसके जाने के बाद सारी गालियों का बदला, बच्चे से जरूर ले लिया होगा। दूसरे दिन से उसने उसे घर में बन्द करना शुरू कर दिया। पर पहले दिन जब वह लौटा होगा, तो बच्चा रोते-रोते थककर बेहोश हो गया होगा। उसकी आँखें सूजी रही होंगी और दूसरे दिन से उसे साथ काम पर ले जाने लगा होगा।

पर साहब की बेटी और मुन्ना के घोड़े से जान-पहचान, फिर अदला-बदली हुई और जब, साहब की पत्नी ने अपनी बच्ची के हाथ में मैला-सा घोड़ा देखा तो, पहला काम यह किया होगा कि, बच्ची के हाथ से बच्चे का घोड़ा छीनकर, फेंक दिया होगा। बच्चे के हाथ से नरम-नरम रूई का घोड़ा छीनकर, उसे एक झापड़ दिया होगा। बच्चे ने रोते हुए अपने घोड़े के पास पहुँचकर, उसे उठाया होगा। उसकी तीन टाँगें जमीन पर ही पड़ी रह गयीं। वह फूट-फूटकर रोने लगा, और अपने होठों से घोड़े को सटा लिये होगा; जैसे उसे अपने मारे जाने का नहीं घोड़े की चोट का बड़ा क्षोभ हो।

"आखिर उसे छूही लिया। मना कर रही थी, माना नहीं! डर्टी, बदतमीज़!" बच्चा बीच में मेरे पास से घोड़े को उठा ले गया था, औरत बच्चे को डाट रही थी और उसने एकाएक उसके हाथ से घोड़ा छीन कर ट्रेन की खिड़की से बाहर फेंक दिया। मेरे मुँह से अचानक एक चीख़ निकल पड़ी पर फिर ध्यान आया, तो औरत, पहले तो शरमा गयी,

उसके गालों पर सफ़ेदी दौड़ गयी पर फिर वह मुस्कराने लगी, लज्जा और क्षोभ नहीं, एक शरारत—जिसमें आदमी की बेवकूफ़ी की तरफ़ इशारा था। उसकी आँखें उभर आयीं।

वह मिट्टी का खिलौना, मिट्टी में मिल चुका था। मैंने डिब्बे से बाहर झाँका, सुबह बीत रही थी......लेकिन सिरपत ने भैंस दूहने की बाल्टी नहीं माँगी। रामू चाचा की खाँसी और हरखू की खटनही नहीं बोली, जयराजी के बैलों की घंटी की आवाज़ नहीं आयी और सुबह बीत गयी; यह भी अजीब सुबह है।

वह बूढ़ा ट्रेन से उतर गया था, उसकी सीट खाली थी, जैसे वहाँ कोई बैठा ही नहीं था और वह औरत, कनखियों कुछ देख कर, मुस्करा रही थी......

अगली कहानी

कल तक जो कुछ हुआ है, उसे अनकहा ही मानिए, क्योंकि उसमें कोई भी ऐसी सलीके की बात नहीं थी, जो आपके मन को रिझा सके। ढंग की कटी-छँटी बात न सही, कोई रूमानी घटना ही होती, या होते-होते रह जाती, या सम्भावना के ही रूप में रह गयी होती, तो शायद भूमिका में पकड़ आ जाती, लेकिन वह भी नहीं। रही किसान-मजदूर-आन्दोलन की कथा, सो वह गरज भी इन लेखकों की क़लम से बिल्ली की म्याऊँ बन कर रह गयी। आख़िर कान ही बेचारे क्या करें, तड़प, तूफ़ान और हाहाकार के वे इतने आदी हो गये हैं कि 'ध्वन्यालोक का प्रणेता' अपने सिद्धान्त के खोखलेपन से खीझ कर सिर पटकता होगा! लेकिन, चलो, अच्छा ही हुआ, जो उसे ध्वनि और रस का महत्व तो मालूम हो गया। कुल मतलब यह कि कल तक के 'जो देखा, सो कहा' से लोग परिचित हो गये हैं, इसलिए कह रह रहा हूँ कि उस कथनी को अनकही ही जानिए।

इन सारी बातों से यह बहुत स्पष्ट हो जाता है कि कथावस्तु को

समस्या आज मेरे सामने नहीं है, और न उसे ढूँढ़ने के लिए गलियों की ख़ाक ही छाननी है; क्योंकि हमारी रोज़मर्रा की जिन्दगी इतनी भावशून्य हो गयी है कि अब दफ्तर के बाबू पर साहब की डाँट का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। न तो बाबू मन से काम करता है, न साहब मन से डाँटता है। रही ग़रीबी, भुखमरी की बात, वह भी इतनी व्यापक हो चली है, जैसे मध्यमवर्गीय घरों में औरत-मर्द का झगड़ा।

बच रही प्रणय-चर्चा, वह भी अब अनुभूत विषय नहीं रही और उसकी पिछली कहानियाँ भी अब 'सेकेंड हैंड' अनुभूति हो चली हैं; क्योंकि आलोचक की माँग है उस जीवन से सजग सम्पर्क की, जिसकी कहानियाँ लिखी जानी हैं। तो फिर उसकी चर्चा भी अनायास ही होगी। मसलन, कथानक के लिए आमने-सामने की दो खिड़कियों को ले लिया जाए, जिनमें एक तरफ़ कोई युवक और दूसरी तरफ़ कोई युवती खड़े-खड़े घंटों पहरा दिया करते हैं। यह संयोग की ही बात है कि घरों में परिवार रहते हैं और परिवारों में युवक-युवतियाँ, और इनका इस तरह घूरना, तरेरना, समय बिताना, यह सब कोई ख़ास बात नहीं, और न ही इससे कोई प्रेरणा ही मिलती है; अलबत्ता इससे कथानक को खाद ज़रूर मिलती है। लेकिन इनमें कोई क्लाइमेक्स नहीं होता; ऐसी जाने कितनी घटनाएँ आँखों में आती हैं और फिसल जाती हैं। फिर यह सब बासी-सा लगता है। अनकही-सा रस है इसका—कुछ फीका-फीका!

लेकिन, अगर किसी धोबी के छोरे को ले लें, जो घर पर आ कर बड़े मजे में कपड़ा लेता-देता है, और अभी-अभी इंटर की परीक्षा में बैठने वाली घर की भोली बच्ची जब उसे कपड़े देती, गिनती और लिखती है, तो उससे दो बातें बन जाती हैं। एक ओर निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व हो जाता है कहानी में और दूसरी ओर बड़े घर की लड़की की शर्मीली अदाएँ पाठक के मन में उतरने लगती हैं। फिर बॉडी और समीज की संख्या गिनते हुए, दोनों की मौन मुस्कराहट जैसे कुछ नयी लगती है; पर यह भी ऐसी चीज नहीं, जो सचमुच नयी हो। हाँ, दोनों

का किसी दिन एकाएक घर से ग़ायब हो जाना कुछ कुतूहल उत्पन्न करता है; क्योंकि निम्न वर्ग का साहस और उच्च वर्ग का उत्सर्ग एक स्थल पर मिल जाते हैं। लेकिन इसमें एक ख़ामी है; यह घटना साहित्य की नहीं, पत्रकारिता की चीज बन जाती है। दूसरे यह कि उसका लेखक न तो धोबी का बच्चा है, न बाबू की बच्ची। इसलिए अनुभूति उधार-ओछी, साहित्य के लिए निकृष्ट ही होगी।

इस सबका, जो मैं कह रहा हूँ, कोई खास सिलसिला नहीं होता। कहानी के लिए किसी खास ब्योरे की भी ज़रूरत कहाँ रही अब? किसी भी ढंग की, किसी भी बात को, कैसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, कहानी कह दिया जा सकता है। गहरे उतरने पर, साहित्य का आधार, जीवन भी तो सिलसिले से खाली ही मिलता है। उदाहरण के लिये मजदूर मजदूर ही नहीं है, वह अपने वर्ग का सफल लेखक भी है, चित्रकार भी है, नेता भी है और प्रेम कथाओं का हीरो भी। वह नेकर-कमीज भी पहनता है, कुर्ता-पायजामा और जैकेट पहन कर, टोपी भी लगा लेता है। कभी उसके बाल साफ हो जाते हैं, तो कभी बढ़ कर जैसे बया का घोंसला। कभी वह धीरे से बोलता है, तो कभी गरज कर आकाश को भी कँपा देता है। घंटे में दो-दो बार, दिन में बीसों बार, बीसों रूप हैं, 'प्रभु अनन्त प्रभु-कथा अनन्ता'। मनुष्य अध्यापक है, कवि है, विचारक है, नेता है, हीरो है। कहीं वह गाता है, कहीं रोता है, कहीं हँसता है, कहीं बिलकुल सत्य कहता है, तो कहीं बिलकुल झूठ। कहीं वह मर्यादा के लिए वाल्मीकि-व्यास बन जाता है, तो कहीं पैसे के लिए चाटुकार।

तो फिर सिलसिले पर बहुत जोर देना जरूरी नहीं। यह तो युग-सत्य है, और युग की छाया साहित्य पर होनी ही चाहिए। रही असामान्य चर्चाओं द्वारा कथा-रस पैदा करने की कला, सो तीतर और बटेर लड़ाने वालों की अनोखी बोलियों से लेकर, बन्दर और भालू नचाने वालों के बच्चों और गाँव की कोलियों में दो मुट्ठी दाने पर, कान की खूँट निकालने

वाले नटों की टोपियों तक मे फैली हुई है। इस विशेषता का आग्रही पुराना नर्तक भी अपने भस्म-स्तूप पर जमुहाई लेता सोचता है, "काश ये लम्बे बाल न रखाये होते! अब तो इन्हें मुड़ा देना भी अनुचित होगा!"

इसीलिए सोचता हूँ कि असामान्यता बाद में खलती है, सोच में डाल देती है कि कैसे सब किये-कराये पर पानी फेर दें? शायद इसीलिए आलोचक सामान्य जीवन के साथ तो नहीं, पर पास रहने की सलाह देता है, जो उसके लिए पास से भी इतर है, क्योंकि उसका साहाय्य तो कृतिकार है, कृतित्व है, उसकी खाद नहीं। और वह भी सामान्य कृतित्व नहीं, क्योंकि उसके बहुमूल्य समय से खिलवाड़ करने का हक़ भी किसी को कहाँ? 'अजगर करे न चाकरी........।'

तो सामान्य जीवन से ही कोई बात निकालनी चाहिए; क्योंकि बुजुर्गों का अनुभव भी तो यही बताता है। रवि बाबू और रोम्याँ रोलाँ की वयोवृद्धि ने भी उन्हें यही सिखाया था। इसलिए विशिष्टता की खोज कहानी का धर्म नहीं है। चाहे कोई पढ़े, या न पढ़े, पर कोई लेखक अपना धर्म कैसे छोड़ सकता है? लेखक लेखक ही नहीं, मनुष्य भी तो है।

लेकिन, फिर जो समस्या उठी, उसका कोई हल नहीं सूझता। इस भीड़ के चेहरों में कोई ऐसा कथारस नहीं। यह सब जैसे इकहरे हैं, एक ही तरफ जाते हुए और एक ही तरह की बात करते हुए। मै तो इन्हे कब से देखता हूँ। जब यह पहले मिले थे, इनके दाँत सफ़ेद थे,—दूध से धौत, फिर कुछ लाल हुए और अब तो ये काले पड़ गये हैं; क्योंकि पहले दूध, फिर पान, फिर तंबाकू-बीड़ी का इन पर प्रभाव पड़ा। बड़ा अन्तर है इन सबमें, और यह चक्कर बड़ा परिचित है, कोई नयापन नहीं है इसमें। लेकिन वह क्रम ऐसा ही क्यो है? काश, पहले इनके दाँत काले रहे होते, फिर लाल होते, और फिर दूधिया हँसी इनके अरुण चेहरो पर खेलती होती! तब शायद इनमे रस बढ़ता, कुछ नयापन आता।

लोग कहते हैं कि प्रकृति मनुष्य में विकास होता है। अपनी आँखों से मैंने प्रकृत मनुष्य में घटती ही देखी है। सेठ बाँकेमल का बचपन मुझे याद है, जो बाईस वर्ष की उम्र में मातृ-रक्त से अपना हाथ रँग कर, बंकिमलाल से बाँकेमल हो गये हैं, मीनाक्षी मराछी बन कर, नून-तेल बेचती है; और बोधन साईं, बुद्धू भठियारा बन गया है; यह सिकन और सलवटों की पहचान नहीं, प्राण की परख मानी जाए, तो हमारा युग सामान्य घटती पर ही है। ठीक निर्जीव की तरह, जीव में विकास की सम्भावनाएँ कम ही लक्षित होती हैं। हाँ वह अपनी जाति की संख्या ज़रूर बढ़ा रहा है, पर वह भी निकम्मी, रुग्ण और मरणासन्न।

यह सामान्य जब तक किसी विचित्र घटना से रंजित नहीं होता, हमारे काम का कहाँ ठहरता है? और मुझे भी तो आपके सामने कल से हट कर, एक नयी कहानी कहनी है, जो अनकही हो—कुँवारी। इसलिए, यह पार्क, जहाँ बैठ कर मैं ध्यानावस्थित-सा हो चला हूँ, यदि तेजी से चक्कर काटने लगे, या एका-एक पाताल में धँस कर, फिर जमीन से हिमालय की तरह उठ जाए, तो शायद मुझे कोई बात कहने का अवसर मिल जाए!

यह बूढ़ी बेंच! मुझे याद है, जब इसकी जवानी थी, मेरी लालसा भी तब ऐसी ही थी। जिज्ञासा तब बूढ़ी नहीं हुई थी, इच्छा मरी नहीं थी, जोश ठंडा नहीं हुआ था। बीस वर्ष हो गये, पर यह नौस्टेशियम, यह डेलिया और हॉलीहाक्स वैसे ही हैं। हर जाड़े में इनकी शोभा होती है, वैसी ही सुन्दर, कुछ सुन्दरतर ही। पर अब यह मुझसे बोलते नहीं; क्योंकि यह भी अब बड़े सामान्य हो गये हैं। कभी इस पार्क को ले कर भी कहानियाँ बनी थीं। अंग्रेज मेमों के लिपस्टिक से इसकी शामें गाढ़े लाल रंग में रँग उठती थीं और गोरे साहबों की मजबूत कलाइयों में, उनकी पतली कमर फिरहिरी-सी नाच उठती थी। लेकिन यह सब बहुत पुराना है, बार-बार का जुठारा हुआ, उच्छिष्ट, और फिर इसमें सामान्य तो कुछ भी नहीं।

बात बनती नहीं दीखती; शायद आज मैं आपसे कुछ भी न कह सकूँ। समय जरूर ले लिया थोड़ा, पर मैं भी तो कब से सिर खपा रहा हूँ। कितने लोग आये-गये, पर मैं जैसे पत्थर-सा जमा हूँ। बच्चों की चुस्ती ने माली को आँखों में कितनी बार धूल झोंकी, पर एक बार भी मुझे हँसी नहीं आयी। युवती की आँखें टेढ़ी हुईं और युवक जैसे कुछ डरते-डरते झिझक गया; पर मैंने उन्हें देख कर भी नहीं देखा। अब वे किसी लता के झोप में छिपेंगे, पर मुझे इससे क्या?

बीड़ी-यूनियन की कार्यकारिणी के सदस्य भी अभी घास की इन्हीं फुनगियों पर क्रान्ति बिखेर कर गये हैं; पर यहाँ तो कोई रक्त-बिन्दु नहीं अलबत्ता घास कुछ दुःखी जरूर लग रही है—दबी-दबी-सी, जैसे यही उनकी मालिक हो। फिर भी, यह प्रकृत वस्तु की प्रतिनिधि है, सीधी तो हो ही जाएगी। लेकिन मेरी कहानी कहाँ बनी? कहाँ क्लाइमैक्स आया? कहाँ कोई नयी बात मिली? तब फिर अगली गोष्ठी का क्या होगा? और आलोचक...मैं सोच ही रहा था कि मेरी गर्दन के पिछले भाग में तेज दर्द हुआ, जैसे किसी ने आग का अंगीठा रख दिया हो। मैंने ज़ोर से उस पर हाथ दे मारा, और हाथ में मरी हुई मधुमक्खी आ गयी, जैसे एक सामान्य पर्दा खुल गया हो। मैं उठ खड़ा हुआ। पाँव थरथराने लगे, तो मैंने बैंच पर हाथ रख कर अपने को सँभाला।

मुझे अपने बुढ़ापे का स्मरण हो आया। कितना असाधारण हो गया था मैं अभी-अभी, और जैसे शोख हँसी से भरी हुई हवा मुझे गुद गुदाती हुई निकल गयी। जुही की शर्मीली कली-सा, प्रतिपदा का चाँद मेरे आगे से गुजरा, और मैं धीरे-धीरे घर की ओर चल पड़ा।

जब पार्क से बाहर निकला, तो रात गहरी हो गयी थी। चाँद अशोक के गुंफित वृक्षों के झमेले में, किसी मासूम बच्चे-सा खेलने लगा था, और उसकी कटावदार रुपहली पत्तियों ने चाँदनी को महीन कुहासे में बदल दिया था। मेरी निगाह भी बदल चुकी थी। बगल में देखा, तो रात की रानी के हाथ में बहुत नन्हीं बिन्दियों वाली फुलझड़ी हिल रही

थी। मेरा मन हल्का हो चला। पग-पग पर नयी अनुभूतियाँ जैसे बाल-मराल पर चढ़ कर आतीं और साथ चलने लगतीं। मैं सँभाल नहीं पा रहा था, क्या रखूँ, क्या छोड़ूँ। तब तक बिलकुल फाटक पर पार्क की ओर मुँह किए एक रिक्शा दिखाई पड़ा। सोचा, कोई कहीं जा रहा होगा, पर उसी समय गर्दन पर परपराहट बढ़ गयी। मैंने हाथ से सहलाया, तो लगा जैसे इस हल्के-से असामान्य दर्द से मैं कितना सामान्य हो उठा हूँ! यह ज़रूर किन्हीं प्रेमी-प्रेमिकाओं की जोड़ी होगी! नगर के कोलाहल से बच कर, प्रेम-चर्चा के लिए इससे बढ़ कर, कहाँ स्थान मिलेगा? मैं चलता रहा। अब बनैले गुलाबों की झाड़ियाँ पीछे छूट रही थीं और श्याम लता के छोटे-छोटे कई कुंज आगे थे। सोचा, बढ़ जाऊँ, पर रिक्शा बिलकुल आगे था। उत्सुकता हुई, देखा, यह अकेली क्यों?

रोमी मेरे पड़ोसी ठाकुर साहब की अकेली कन्या है। दुलारी है, इस लिए जो चाहती है, करती है। कोई रोक-टोक नहीं। रहन-सहन पर बड़ा पैसा खर्च करते हैं बेचारे। जो चाहेगी, वह तो कर ही देंगे। कभी बड़े-से-बड़ा अपराध करने पर भी, अपने इस उन्नीसवें वर्ष में भी, जब बच्चों की तरह आवाज़ बना कर, रोमी बाप की गोद में बैठ जाती है, उनका सारा मलाल धुल जाता है। बेचारे अक्सर कहते हैं, "क्या करूँ, कुछ भी कहना इसके लिए बुरा होगा। माँ भी नहीं रही और अभी तो बच्ची भी है, इसलिए हेयर-ड्रेसर लगा रखा है।" कपड़े-लत्ते के लिए इलाहाबाद का सबसे नामी दर्जी प्रायः उसके कमरे में बैठा रहता है। कभी सलवार की पट्टियाँ बनती हैं, तो कभी कमीज पर मशीन के कसीदे काढ़ती है। कभी कमर से कुर्त्ता कुछ ढीला है, तो कभी वेस्ट ठीक नहीं पकड़ता, और वह बेचारा दर्जी हफ्ते में दो-तीन चक्कर तो लगाता ही रहता है। नाखून की कटाई, भौंह की बनावट, सबमें रोमी एक ही है। प्रायः लड़कियाँ उसका रोब मानती हैं। मैं बहुत पास आ गया था। देखा पीछे सड़क वाली दूकान से एक साहब जल्दी-जल्दी रिक्शे की ओर बढ़े आ रहे हैं

शायद सिगरेट लेने लगे थे, मैंने सोचा, पर शक्ल पहिचानी नहीं लगती। फिर रोमी तो संजय के साथ ही ज्यादा घूमती है और संजय भी तो कहता था न. मेरा कुतूहल बढ़ा, इसलिए यह निश्चय कर लेना जरूरी हो गया कि यह रोमी ही है या कोई गैर, मैं पास तक चला गया। रोमी बड़ी प्रसन्न-सी, रिक्शे से बाहर आ गयी और मेरे कुछ पूछने से पहले ही बोल उठी, "इतनी रात इधर कहाँ, दा! आज-कल घूमने ही में समय खराब कर रहे हैं! मैं तो माता जी से शिकायत करने वाली थी कि बड़े दा गूँगे होते जा रहे हैं, पर चलो अच्छा हुआ, जो मिल गये..." तब तक वह युवक रिक्शे के पास पहुँच गया था। रोमी ने जूते की आवाज से ही जान लिया, और फिर बात बढ़ाते हुए कहने लगी, "यह बसन्त भैया हैं, मेरी मासी के लड़के हैं। आज ही आये हैं लखनऊ से; इसलिए सिनेमा चली गयी थी। इन्होंने कंपनी बाग नहीं देखा था; कहने लगे—देखता चलूँ तो क्या हर्ज है—।"

"कोई हर्ज तो नहीं, रोमी! पर देर हो गयी है। शायद पुलिस वाला मना करे, फिर भी इन्हें दिखा तो देना ही चाहिए।" और मैं उनको नमस्कार करके आगे चला आया।

क्षण-भर को फिर मैं अपनी अगली कहानी का सूत्र खोने लगा। कुछ उलझा-सा हो गया सब, और फिर मेरे मन में रोमी का वर्तमान न रह कर, भूत घिर आया।

संजय रोमी के बाप का किरायेदार है। पहले साथ में और भी कई लोग रहते थे, पर जब रोमी के बाप ने छोटा मकान छोड़ कर, इस मकान में रहने का निश्चय किया, तो सारे किरायेदारों को घर छोड़ कर अलग होना पड़ा। बेचारा संजय भी परेशान हो गया। एम० एस-सी० पहले दर्जे में पास किया है उसने, पर दुनियाँ का एक भी दर्जा तो नहीं देखा। जब ठाकुर साहब को पता चला कि जात-बिरादरी का लड़का है, सुन्दर है, आगे आशा भी बड़ी है, तो उसे मकान का एक सबसे अच्छा कमरा दे दिया और रोमी इससे बड़ी प्रसन्न हुई।

पहले संजय को कुछ परेशानी हुई, क्योंकि 'आई-टू-आई' या 'फ्ला-इंग किस' का मतलब वह नहीं जानता था, 'न्यू पिंच' पर वह ऐसे चौंक पड़ता, मानो बिच्छू ने डक मार दिया हो। पर रोमी ने धीरे-धीरे पढ़ाया, गुरु की तरह रोमांस और प्यार के दार्शनिक और सैद्धान्तिक पहलू का ज्ञान कराया। संजय को पैसों की कमी पड़ने लगी। सिनेमा देखना बढ़ा, और कभी-कभी काफ़ी और बार तक भी रिक्शे पहुँचने लगे।

संजय ने कई बार बताया कि उसे चार-एक दिन के लिए बाहर जाना है; पर रोमी नहीं मानती, "तो फिर मैं भी चलूँगी साथ।" और वह उसके घुटनों में मुँह छिपा लेती, "तुम कुछ भी नहीं समझते, संजय! मैं चार दिन तक कैसे रहूँगी?" और संजय बड़े प्यार से अपना आग्रह वापस ले लेता, "यह तो तुम्हारी ही मर्जी की बात है, रोमी! मैं कहाँ जा रहा हूँ, उठो चलो, तुम्हारा मन भारी हो गया है, जरा घूम आएँ।" और वे कभी कॉफी-हाऊस, कभी किसी चाय-घर, या सिनेमा में जा बैठते।

एक दिन संजय बड़ा उदास-सा आया, और जैसे किसी बड़ी मानसिक अतृप्ति में डूबा हुआ, मेरे कमरे में बैठ गया। मैंने पूछा, तो कुछ बोला नहीं। फिर थोड़ी देर बाद, अपनी घुटन का पर्दा उतार फेंकने के लिए कहने लगा, "मैं रोमी को जब-कभी सिविल लाइन्स ले जाता हूँ, तो वह उस दर्जी के यहाँ जरूर जाती है। कभी-कभी तो दोनों हँस कर बातें करते हैं, और कभी-कभी वह यह कह कर अन्दर चली जाती है कि मैं अभी आयी, और मैं घंटों बाहर इन्तजार करता हूँ।

"अक्सर वह किसी-न-किसी कपड़े का बहाना बनाती है, या मुझसे कोई कपड़ा खरीदवा लेती है। फिर उसे कटाने, सिलाने, या कोई नया तर्ज समझाने की बात बना बैठती है। मुझे तो बड़ी घुटन होती है, बुरा भी लगता है। कहीं लड़कियों के कपड़े इस तरह सिले जाते हैं? न तो

नाप के लिए कोई कपड़ा ले जाती है, न..." कहता-कहता वह रुक गया।

"अरे उस दर्जी से ठाकुर साहब का बड़ा परिचय है, भाई! इतने दिनों में तुमने इतना भी नहीं समझा! वह हर मौके पर उनके घर आता-जाता रहता और खाता-पीता है। रोमी को बहुत मानता है। इसमें और कोई बात नहीं, पर आज ऐसा क्या हो गया?" मैंने बड़े हल्के ढंग से पूछा।

सजय कुछ चिढ़-सा गया था। बड़ी झुँझलाहट के स्वर में बोला, "यह तो मुझे बेहद नापसन्द है कि कोई इस उम्र की लड़की, किसी ऐसे आदमी से, इस तरह मिले-जुले। आज मैं करीब पाँच बजे उसे ले कर सिविल लाइन्स गया। उसने मुझे पाँच मिनट बाहर इन्तजार करने को कहा और उसके साथ अन्दर चली गयी, घंटे-भर तक नहीं लौटी। बीच ही में एक लड़का मिठाइयाँ ले गया, बिस्कुट ले गया, चाय ले गया और मैंने पूछा, तो बड़े गंदे ढंग से हँस कर कहने लगा, 'कब तक खड़े रहिएगा, बाबू, अपना काम देखिए।'

"मैं उसे छोड़ कर लौट आया, और सोचता हूँ, आज यहाँ से चला जाऊँ, सो तुमसे कहने आया था।" और वह उठ खड़ा हुआ। मुझे हँसी आ गयी, "संजय! यह सब बड़े पेचीदा मसले होते हैं, भाई! ठीक समझ कर ही चलना चाहिए; क्योंकि ग़लतफ़हमी होने का बड़ा डर रहता है।" संजय कुछ रुका, वह रुकना चाहता भी था। मैंने बात बढ़ायी, "उससे पूछ तो लो, शायद कोई बात रही हो!"

संजय उस समय शान्त हो गया। बाद में उसने बताया, "रोमी उस दिन बड़ी दुःखी थी। बहुत रोती रही, कहती थी कि मुझे उस पर इस तरह शक नहीं करना चाहिए। उसी दूकान के पीछे उस दर्जी की पत्नी और बहिन भी रहती हैं। उन सबों ने किसी भी तरह उसे आने ही नहीं दिया। उसने बहुत कहा, पर वे मानी नहीं।"

फिर मुझे एकाएक बसंत का खयाल हो आया, और कंपनी बाग़ की

दर्शनीयता से लेकर, संजय और रोमी की सारी घटनाएँ मन मे उतर गयी। रोमी आज कितनी ख़ुश थी। अभी चार ही दिन तो हुए संजय को गये, और कल ही ठाकुर साहब कह रहे थे कि यह रोमी संजय से इतनी हिल गयी है कि लगता है बिना उसके नहीं रह सकती। उस दिन बड़ी दुःखी थी, खाना तक नहीं खाया इसने, पर आज तो...मै सोच ही रहा था कि पीछे से रिक्शे की घटी बजी। सड़क का मोड़ था। मैंने अपने को सँभाला, फिर सोचा शायद बसत और रोमी हो, इसलिए बगल-बगल चुपचाप चलने लगा, पर रिक्शा रुक गया, देखा तो संजय !

"तुम लौट आये क्या?"

"हाँ, इसी गाड़ी से तो, तुम्हे पता नहीं क्या ? मैंने तार तो भेज दिया था। रोमी स्टेशन पर भी नही आयी, बीमार तो नही हो गयी ? मै तो घबरा गया; स्टेशन पर बहुत ढूँढ़ा, पर कहीं दिखाई नहीं पड़ी।"

मेरा मन बड़ा दुखी हो गया, पर क्या कहता उससे, "नही, मैंने तो ऐसा नही सुना, अच्छी ही होगी। कोई काम आ गया होगा। और कहो, अच्छे तो रहे ?"

"हाँ, अच्छा तो रहा; पर, न जाने क्यो, मन नहीं लगा, रह-रह कर अनिष्ट के बड़े भाव मन मे उठे इस बार ?" वह रास्ते पर चलते हुए बात करता रहा, फिर कहने लगा, "बैठ न जाओ रिक्शे पर तुम भी, चले चले !"

अब घर पास ही था, करीब एक फ़र्लांग के। हम लोग जल्दी ही पहुँचे, तो वहाँ एक अजीब तमाशा दिखाई दिया। ठाकुर साहब गुस्से में बकते जा रहे थे, "निकालो यहाँ से बदतमीज को ! छोटे आदमियों को मुँह लगाने से यही होता है..." और घर के तीन नौकर उस दर्जी को पकड़ कर जबर्दस्ती घसीट रहे थे। वह भी चिल्ला-चिल्ला कर कहता था, "इज्जत वाले थे, तो क्यों दो-दो घंटे दूकान मे अकेली छोड़ आते थे ? घर से इसलिए तो भेजते थे कि कपड़े बनते रहे, सिलाई न लगे ! दिया

है एक पैसा आज तक ? हजारों का हिसाब होगा, मैंने जाने कितने कपड़े अपने पैसों से खरीदे और सिले हैं।"

ठाकुर साहब गरज रहे थे, "पीटो साले को, खूब पीटो! इस तरह की बातें बकता है!" और नौकर उसे घूँसे-झापड़ लगाने लगे।

संजय तो जैसे काठ हो गया; पर मैंने रिक्शे से उतर कर नौकरों को रोका। उसके कपड़े फट गये थे। और माथे के पास से खून भी निकल रहा था। मैंने ठाकुर साहब को समझाया। पर वह बकता रहा, "यह कौन नहीं जानता इस शहर में कि मेरा उससे सम्बन्ध है! सारी सिविल लाइन्स जानती है। पाँच वर्ष से लगातार मैंने उसके सारे शरीर को देखा, नापा, क्या-क्या नहीं किया ?" और उसने संजय की ओर इशारा करते हुए कहा, "एक दिन यही बाबू ले कर गये थे, तो दो घंटे मेरे साथ रही। कहती थी, बहाना बना देगी कि मेरी औरत से बातें कर रही थी। मैंने उसी के लिए तो विवाह नहीं किया, मेरे औरत नहीं, और दूकान के पीछे घर कहाँ है ?"

मैंने उसे डाँटा, तो वह चुप हुआ। फिर पूछा, तो ठाकुर साहब ने बताया कि "आज शाम चार मर्तबे यह आया, और बार-बार यही पूछता रहा कि रोमी कहाँ गयी है। जब मैंने कहा कि घूमने गयी है, तो कहने लगा, 'किसके साथ गयी है, क्यों गयी है ?' इस पर मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैंने इसे डाँटा, तो मुझसे लड़ने लगा।"

मैंने कहा, "अच्छा, हटाइए, भी, बहुत हो चुका अब तो!" पर ठाकुर साहब जैसे नशे में थे, कहने लगे, "नहीं, इसे आज पुलिस को दे कर ही मानूँगा।" तब तक दूसरे रिक्शे की भी घंटी सुनायी पड़ी। बसन्त और रोमी आ पहुँचे। वहाँ लोग आ गये थे शोर-गुल हो रहा था। पर जैसे रोमी के आते ही फिजा बदल गयी।

उसके सूखे बाल कुछ अजीब से बिखरे-बिखरे थे, और वह बार-बार अपने होंठों पर अपनी जीभ फेर रही थी। ठाकुर साहब कुछ न बोले। न जाने क्यों, सिर झुक गया उनका।

दर्ज़ी की आँखों में ख़ून उतर आया। उसके मन में एक तूफ़ान उठा, और नथुने फड़कने लगे, "मै इस तरह छोड़ने वाला नहीं... नही !" वह बुदबुदाने लगा।

संजय—जैसे कोई प्राणहीन वस्तु हो, चुपचाप, निश्चल, निश्तेज, "चलो अच्छा ही हुआ, जो इस नरक में फॅसते-फॅसते बच गया। बुज़ुर्गों की दुआ ही कहो इसे, वर्ना सारी जिन्दगी इस पाप के पहाड को ढोना पड़ता !"

वसंत—हतबुद्धि, स्तम्भित, जैसे कोई मोटर लड़ गयी हो और वह बच कर बाहर खड़ा हो और ऐक्सिडेन्ट की बात सोच रहा हो, "आख़िर यह सब है क्या ? मुझे यह सब नहीं करना चाहिए था ! कितनो लज्जा-जनक बात है ! सड़क, पार्क...आखिर कुछ भी तो शर्म होनी चाहिए आदमी मे। छी छी...मैंने बड़ी ग़लती की। पर यह लड़कियाँ... उफ़...!"

ठाकुर साहब—किंकर्तव्य-विमूढ़, "सब, सब ख़त्म हो गया, यह अन्त है।"

रोमी—सचेत, दुःखी, किन्तु धरती के सहारे चलती-चलती, "अब क्या होगा ? क्या होगा अब ? क्या हो गया ? क्या......"

और मै अब घर पहुँच गया हूँ। पहले तो सोचता था कि बात बनी-की-बनी रह जाए, पर मधुमक्खी का बीन्हा हुआ दर्द जैसे मेरी नसों मे उतरता जा रहा था। मै सामान्य था, बिलकुल ज़मीन पर चलने वाला। इसलिए, बहुत साफ़-साफ़ कहे देता हूँ कि मेरी पत्नी का जी कई दिनो से ठीक नही है, घर में दो दिन से खाना भी नही है, पैसे भी हाथ मे नहीं हैं। सम्पादको को कई पत्र लिखे, पर किसी ने कृपा न की। और इसी उलझन मे कुछ लिखा भी नही जाता, वर्ना ऐसा अच्छा मौका किस लेखक को मिलता है, कि प्रकृति की सुरम्य पीठिका मे असाधारण दर्द की अनुभूति से ठाकुर साहब, संजय, बसंत, मियाँ दर्ज़ी और रोमी—जैसे पात्रो को न देखा जा सके ? समाज के विभिन्न वर्गों के कैसे अनूठे चरित्र

हैं—शायद आलोचक खुश हो जाएँ, और सामान्य की कुंजी पा लेने का श्रेय भी मुझे दे दें। इस बार सम्भावनाएँ भी ख़ूब मिल गयी हैं; बैक-ग्राउंड में पकड़ भी है, रोमांस भी, क्रान्ति की उम्मीद भी और ऐडवेंचर भी। और ज़्यादा कुछ नहीं, तो कम-से-कम संजय, दर्जी और बसंत को एक टेबुल के चारों ओर बैठा कर, एक-एक कप चाय तो पिलायी ही जा सकती थी, और इनसे दोस्ताना ढंग से बातें भी की जा सकती थीं। पर घर में न तो चीनी है, न चाय और न इतने प्लेट-प्याले ही। इसलिए इन पात्रों को काल्पनिक मान कर ही बात यहीं ख़त्म करता हूँ, अगली कहानी फिर कभी।